(आनन्दवन ग्रन्थमालायाः पञ्चमं कुसुमम्)

सवार्त्तिकं सानुवादं नारदीयं

भक्तिदर्शनम्

[तृतीयो भागः]

वार्तिककारः

श्रीमज्जयमङ्गलाचार्यः (स्वामी काशिकानन्द यतिः)

(आनन्दवन ग्रन्थमालायाः पञ्चमं कुसुमम्)

सवार्त्तिकं सानुवादं नारदीयं

भक्तिदर्शनम्

[तृतीयो भागः]

•

१९८४

•

वार्तिककारः

श्रीमज्जयमङ्गलाचार्यः (स्वामी काशिकानन्द यतिः)

प्रकाशक :
स्वामी काशिकानन्दजी ट्रस्ट
आनन्दवन आश्रम
स्वामी विवेकानन्द रोड
कांदोवली (पश्चिम)
बम्बई–४०००६७

मूल्य–१० रुपये

प्र स्ता व ना

नारदीय भक्ति सूत्रों पर वार्त्तिक कई वर्ष पहले ही लिखा जा चुका था उसमें संशोधनादि कर सम्पादित अन्तिम रूप जो वर्त्तमान में आप के दृष्टि-गोचर हो रहा है, सम्वत् २०२३ में ही तैयार हो गया था। प्रथम तथा द्वितीय भाग कई वर्ष पहले ही मुद्रित हो गये थे। किन्तु उसके अनन्तर एक दीर्घ विश्राम के बाद ही आज उसका तृतीय भाग जनता जनार्दन की सेवा में प्रस्तुत किया जा सका। अनेक जिज्ञासु इस तृतीय भाग के बारे में बारम्बार पत्रादि के द्वारा पूछते रहे। किन्तु 'छपी नहीं' ऐसा उत्तर देने की अपेक्षा मुद्रणोत्तर पुस्तक समर्पण करना ही अधिक उत्तम होगा, समझ कर ही मौन रहा। पाठकों को एतदर्थ मन में कुछ क्षोभ अवश्य हुआ होगा। किन्तु वियोग के पश्चात् संयोग होने पर तत्क्षण ही वियोग व्यथा का नाम निशान भी जैसे मिट जाता है वैसे यह क्षोभ भी पुस्तक दर्शनोत्तर विलीन हो जायेगा, इस लिये तदर्थ यहाँ खेद व्यक्त करना उपयोगी नहीं समझता हूँ। अस्तु।

साहित्य एवं भक्तिदर्शन :—

साहित्य में काव्य प्रकाश, साहित्य दर्पण, रसगङ्गाधर जैसे दार्शनिक ग्रन्थों का सृजन हुआ। प्राय: उन्हीं के आधार पर गौडीय सम्प्रदाय के अनेक आचार्यों ने भक्ति का भी दार्शनिक रूप व्यक्त किया। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि भक्ति दर्शन साहित्य दर्शन का एक अङ्ग या परिवर्तित रूप मात्र है। यह एक स्वतन्त्र दर्शन है। ब्रह्माजी के मानसिक या औत्सङ्गिक पुत्र नारद जी ने दार्शनिक रीति से सूत्र रचना की इसी से इस की प्राचीनता एवं स्वतन्त्रता सिद्ध है। किन्तु भाष्यादि निर्माण न होने से उसका प्रक्रियात्मक विकसित स्वरूप बाद में ही लोक दृष्टिगोचर हुआ। अत एव साहित्य दर्शन की छाया इस में दीखने लगी। भक्ति ग्रन्थ प्रायः काव्यात्मक होने से काव्य गत नव रसों का यहाँ होना

स्वाभाविक है। किन्तु विशेषता यह है कि लौकिक काव्य ग्रन्थों में अनुपलब्ध रसों का भी यहाँ अस्तित्व परिलक्षित होता है। जिस को देवर्षि नारद जी ने गुणमाहात्म्यासक्ति सूत्र में सूत्रित किया। इस का कुछ स्पष्टीकरण द्वितीय सूत्र के वार्तिक में दिखाया गया। गुणमाहात्म्यासक्ति सूत्र के वार्तिक में उसी को प्रकारान्तर से विवेचित किया।

वस्तुत: लौकिक काव्यों में जो नव रस हैं उन से विलक्षण ही भक्ति में आये हुए नव रस हैं। लौकिक काव्यों में ये रस मात्र प्राकृत हैं। भक्ति में ये दिव्य स्वरूप हैं। यह बात भी त्रिसूत्री वार्तिक में स्पष्ट किया गया है। इतनी बात अवश्य है कि लौकिक रस उन दिव्य रसों का मार्ग दर्शक होने से भक्ति दर्शन में भी उसके अस्तित्व से इनकार नहीं किया जा सकता। अर्थात् भक्ति काव्य में कहीं कहीं लौकिक नव रस भी विद्यमान है। उसे भी भक्त लोग दिव्यता में डुबोते हैं यह अलग बात है। भक्ति दर्शन के स्वतन्त्र अस्तित्व में इतना कहना ही पर्याप्त होगा।

एक बात और है। वह यह कि लौकिक काव्यों में गौण रस ही होते हैं। गौण अर्थात् गुण प्रयुक्त रस। भक्ति में भी गौण रस है। किन्तु उससे अतिरिक्त निर्गुण रस भी होता है। इसी को लेकर देवर्षि नारदजी ने "गुणरहितं कामनारहितं" इससूत्र में प्रथम गुणरहितं यह विशेषण दिया। श्रीमद्भागवत में कपिल भगवान् ने सात्त्विक, राजस, तामस और निर्गुण ऐसी चार भक्तियों का स्पष्ट निरूपण किया है। जिनमें निर्गुण भक्ति की मुख्यता एवं विशेष महत्ता दरसायी गयी है। गोपिकाओं की भक्ति निर्गुण भक्ति ही थी। अत एव उसी का खास उल्लेख "यथा व्रजगोपिकानाम्" इस सूत्र में देवर्षि ने किया।

गोपी भक्ति में वल्लभाचार्यमत :—

व्रजगोपिकाओं की भक्ति के बारे में कुछ ऊहापोह उपस्थित हुआ है। श्रीवल्लभाचार्य ने दशमस्कन्ध की व्याख्या में सात्त्विक, राजस, तामस

से तीन रूप में प्रकरण भेद करके रास पञ्चाध्यायी आदि को तामस
करण में माना। भगवान् की लीला तामसी होने से वह तामस प्रकरण
, या गोपिकाओं की भक्ति तामस होने से वह तामस प्रकरण कहलाया
थवा उभयतः ? यह प्रश्न उठता है। संभव है कि उभयतः तामस होने
उन्हों ने रासपञ्चाध्यायी को तामस प्रकरण माना हो। क्योंकि कई
ातें वहाँ तामस जैसी लगती हैं। उदाहरणार्थ—

ता वार्यमाणाः पतिभिः पितृभिर्भ्रातृबन्धुभिः।
गोविन्दापहृतात्मनो न न्यवर्त्तन्त मोहिताः॥

भगवान् की मुरली ध्वनि सुन कर गोपिकायें शरत्पूर्णिमा को उस
ात में जंगल की ओर चल पड़ीं तो पतियों ने, पिता, भ्राता, बन्धु आदि
भी उन्हें रोका; किंतु वे रुकीं नहीं; क्योंकि भगवान् ने उनके चित्त का
पहरण कर लिया था। वे मोहित थीं। यहाँ अपहरण से तामसता
तीत होती है। और 'मोहिताः' यह तो स्पष्ट तामसता का द्योतक है।
ाजा के प्रश्न की ओर ध्यान दिया जाय तो यह और स्पष्ट होता है।
ाजा का कहना है :—

कृष्णं विदुः परं कान्तं न तु ब्रह्मतया मुने।
गुणप्रवाहोपरमस्तासां गुणधियां कथम्॥

गोपिकाओं ने कृष्ण को अपना कान्त (कामास्पद) समझा था। न
क निर्गण ब्रह्म। अतएव उनकी बुद्धि गुणमयी थी। तब उनका गुण
वाह-उपराम (भगवत्प्राप्ति) कैसे सम्भव था ? इस श्लोक में 'गुणधियां'
त्यादि शब्द सगुणता द्योतक है। यद्यपि गुण प्रवाह-उपराम हो गया।
तः गुणधियां यह पूर्वपक्ष मात्र मानना चाहिए। तथापि "जहुर्गुणमयं
हं" इस प्रकार पूर्वोक्त गोपिकाओं का ही गुण प्रवाहोपराम है। उनका
ह ही छूट गया तो रास करने का प्रश्न ही नहीं रह जाता है।

गोप्यः कामाद् भयात्कंसो द्वेषाच्चैद्यादयो नृपाः।
सम्बन्धाद् वृष्णयः स्नेहाद्यूयं भक्त्या वयं विभो॥

इस नारदीय वचन में भी स्नेह और भक्ति से भिन्न काम का गोपिकाओं में अस्तित्ववर्णन आया है। जिसका समर्थन शुकदेव जी भी—

कामं क्रोधं भयं स्नेहमैक्यं सौहृदमेव च।

इत्यादि कहते हुए करते हैं। रास पञ्चाध्यायी का अन्तिम अंश विमृश्य है "संस्थापनाय धर्मस्य" इत्यादि भगवदवतारप्रयोजन कह कर राजा कहते हैं—

स कथं धर्मसेतूनां वक्ता कर्त्ताभिरक्षिता।
प्रतीपमाचरद् ब्रह्मन् परदाराभिमर्शनम्॥

धर्मसंस्थापनार्थं आये हुए भगवान् ने परदार स्पर्शरूपी धर्मविपरीत आचरण कैसे किया ? शुकदेव जी उसे स्वीकार करते हुए उत्तर देते हैं—

धर्मव्यतिक्रमो दृष्ट ईश्वराणां च साहसम्।
तेजीयसां न दोषाय वह्नेः सर्वभुजो यथा॥

उत्तर का तात्पर्य है—समर्थ को दोष नहीं होता। परन्तु आचरण प्रतीप था इसका निराकरण नहीं किया। अतएव आगे ऐसा कार्य अनीश्वर मन से भी न करें, न सोचें ऐसा बताया—

नैतत्समाचरेज्जातु मनसापि ह्यनीश्वरः।

इन सब पर विचार करने से आपाततः यही तथ्य सामने आता है कि भगवत लीला में तामस उपाधि थी और गोपिकाओं के भाव में तामसता थी।

गोपी भक्ति में अन्य आचार्यों का मत :—

अन्य आचार्य रासलीला में और गोपी भक्ति में तामसता स्वीकार करने के पक्ष में नहीं हैं। उनका विचार यह है कि "मोहिताः" में तामस मोह नहीं है। प्रेममूर्च्छा अर्थ है। वह निर्गुण ही है। "तासां गुणधियां" में यद्यपि सगुणता स्पष्ट है, तथापि वह उन्हीं गोपिकाओं

पर लागू है जिनको रास में प्रवेश प्रत्यक्षत: नहीं मिला था। उनके लिए "गुणधियां" यह विश्लेषण उचित ही है तथा भक्ति के गुण प्रवाहो-परम यथा कथं चित् हुआ यह भी संगत है। "परं कान्तं" "गोप्य: कामात्" इत्यादि विशेषण सगुणता के लिए अपर्याप्त है। क्योंकि यह वचन भी देखें—

"प्रेमैव गोपरामाणां काम इत्यगमत् प्रथाम्।"

गोपिकाओं का प्रेम ही कामरूपेण प्रसिद्ध हुआ। "गोप्य: कामात्" इस श्लोक में स्नेह और भक्ति से उसे पृथक करके क्यों बताया? इस प्रश्न का उत्तर यही है कि उसी श्लोक में स्नेह और भक्ति को अलग कैसे बताया? यदि कहते हैं कि स्नेहापेक्षया भक्ति में शुद्धता अधिक है तो हम भी कहेंगे—गुणरहित होने से कामपदार्थं प्रेम में परिशुद्धता अधिकतर है। या गाढ भक्ति बतलाने के लिए उसे काम कहा।

केवल एक धर्यव्यक्तिक्रम को बात रह जाती है। परन्तु वह प्रश्नानुसार उत्तर मात्र है। राजा को मति को अपरिपक्व देख कर "यक्षानुरूपो बलि:" इस न्याय का अनुसरण मात्र है। इतने वर्षों तक धर्मरक्षणार्थं राज्यशासन करते हुए राजा परीक्षित के दिमाग में प्रेम-पत्तन वालों की "अत्राधर्म एव धर्म:" इत्यादि प्रतीप गामिनी गहन भक्तिकल्लोलिनी का रहस्य सहसा कैसे आता? यह बात राजा के ऐसे प्रश्न से ही प्रकट होती है। अत: शुकदेवजी का उत्तर सामयिक ही माना जायेगा। प्रश्न पर ही विचार करो। "सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्ट:" इस प्रकार सर्वहृदयस्पर्शी भगवान् में परदाराभिमर्शशंका कैसे उठ सकती है? गोपिकाओं ने भी स्वयं बताया—"अखिलदेहिनामन्तरात्मदृक्"। अत: "न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञाना" इस न्याय का अनुसरण ही शुकदेवजी ने किया यह निश्चित है। अत एव आगे शुकदेवजी ने प्रकारान्तर से यही बात "ईश्वर का ईशितव्यों के कुशलाकुशल का सम्बन्ध नहीं होता"

कह कर साबित की। निष्कर्ष यही निकलता है कि रासाध्यायादि में व्यामोहादि वर्णन प्रेमातिशय को लेकर ही है, तामसता को लेकर नहीं।

निष्कर्ष :—

जो भी हो। श्री वल्लभाचार्य ने भी निर्गुण भक्ति का अंगीकार तो किया ही है। कपिल गीता में वर्णित निर्गुण भक्ति का विश्लेषण उन्होंने भी किया ही है। इस निर्गुण भक्ति का निरूपण साहित्य-दर्शन में उपलब्ध नहीं हो सकता। अत एव भक्ति-दर्शन को साहित्य-दर्शन पृष्ठगामी नहीं ही माना जा सकता। क्योंकि ये मुख्य भेद दोनों में परि-लक्षित होते हैं—

१. साहित्य गुणोपाधिक नवरस प्रधान है। भक्ति निर्गुण रस प्रधान है।
२. साहित्य के नवरस प्राकृत मात्र है। भक्ति में नवरस भी दिव्य अलौकिक है।
३. साहित्य लौकिकरस पर्यन्त होने से काम पुरुषार्थ है। भक्ति परमात्मस्वरूप परमरस पर्यन्त होने से मोक्ष पुरुषार्थ है।

भ्रान्त धारणायें :—

हम पहले निर्देश कर चुके कि भक्ति सूत्रों पर प्राचीन आचार्यों का भाष्यादि उपलब्ध न होने से इन्हें लोग आधुनिक रचना समझने लगे। इतना ही नहीं। कुछ भ्रान्त धारणा या सिद्धान्तों को भी प्रसार मिलने का अवसर प्राप्त हुआ। कुछ लोग शृंगार भक्ति (गोपी भक्ति) को श्रेष्ठ मानने लगे। दूसरे दास्यादि भक्ति को। समस्त भक्ति का समुचित निरूपण गुण माहात्म्यासक्ति सूत्र में विद्यमान है। ये सभी भक्तियाँ सोपाधिक हैं। इन्हें परमभक्ति कहना उचित नहीं है। पराभक्ति में स्त्रीपुंविभाग है ही नहीं। दास्य शृंगारादि को दिव्यता के अमृत में डुबाते

हैं तो उत्कर्ष अपकर्ष का प्रश्न ही नहीं रहता। वस्तुतः यह साहित्य पृष्ठानुगामिता का ही दुष्परिणाम हुआ। इस विषय पर विस्तृत विवेचना आवश्यक होने पर भी इस संक्षिप्त लेख में उसके लिए स्थान देना सम्भव नहीं है। सूत्र रूप में सारी बातें वार्त्तिक में आ ही चुकी हैं।

सूत्र रचना काल :—

देवर्षि नारद जी के बारे में हम कह चुके हैं कि ये ब्रह्मा जी के पुत्र पुराण प्रसिद्ध नारद जी हैं। अत एव सृष्टि के आदि में ही उनका अस्तित्व रहा। परन्तु उनका जीवन कब तक रहा सूत्र निर्माण कब किया इसका निर्णय करना अत्यन्त कठिन है। क्योंकि पुराण निर्माण काल पर्यन्त उनका अस्तित्व पुराण वर्णित है। अन्तिम पुराण श्रीमद्-भागवत की रचना करने के लिए व्यास जी को प्रेरित करने वाले भी नारद जी हैं। वर्त्तमान श्वेतवाराह कल्प के आदि में जन्म माना जाय तो यह सत्ताईसवाँ अट्ठाईसवाँ कलियुग चल रहा है। अब तक जो रहे वे आज कहाँ गये इस आधुनिकों के प्रश्न का उत्तर पौराणिक भाषा में ही दिया जा सकता है। सिर्फ हम इतना ही निश्चय रूप से कह सकते हैं कि नारद नाम का व्यक्ति अवश्य ही रहा। पौराणिक अन्य कई पात्रों को आधुनिक गवेषक कल्पित पात्र मात्र मानने का साहस भले कर लें। किन्तु नारद जी कोई कल्पित व्यक्ति नहीं हैं। उसमें प्रमाण यह भक्ति सूत्र ही है।

नारद जी ने अपने भक्ति सूत्र में गर्ग-शाण्डिल्य आदि अनेक भक्ताचार्यों का नाम लिया है। पाराशर्य का नाम आता है। अतः सम्भव है कि व्यास जी की रचनाओं के समकाल में या कुछ आगे-पीछे भक्ति सूत्रों की रचना हुई हो। "यथा व्रजगोपिकानां" यह सूत्र भागवता-नन्तर भक्ति सूत्र निर्माण को इंगित करता है। क्योंकि दृष्टान्त प्रसिद्ध ही होता है। गोपी भक्ति की प्रसिद्धि भागवत निर्माणोत्तर ही हुई है।

कर्णपरम्परया अल्प प्रसिद्ध मात्र दृष्टान्तोपयोगी नहीं होता। भागवत रचना काल के विषय में प्राचीन तथा आधुनिक गवेषक काफी गवेषणा कर चुके हैं। अतः उस पर यहाँ विचार करना अनावश्यक है। उस भागवत की रचना के लिए प्रेरणा देने वाले नारद जी को सूत्र रचना के लिए बहुत दूर खींच ले जाना अयुक्त होने से भागवतोत्तर कुछ समय के अन्दर भक्ति सूत्र रचना की गयी ऐसी कल्पना करना ही उपयुक्त रहेगा। इस पर फिर आगे प्राचीन विचारधारा वाले अपने ढंग से और आधुनिक गवेषक अपने ढंग से विचार कर सकते हैं और समय निर्णय कर सकते हैं। मैं अपना कुछ विचार इसलिए सामने नहीं रख रहा हूँ कि देवर्षि नारद जी इसके प्रणेता है इतनी ही बात श्रद्धेयता के लिए पर्याप्त है। अन्यत्र रचना काल का ज्ञान इसलिए आवश्यक है कि उनके पूर्वाचार्यों का कितना प्रभाव रचना में है, पूर्वाचार्यानुसार सूत्राद्यर्थ क्या होना चाहिए इत्यादि निर्णय उससे सम्भव है। देवर्षि नारदजी की कृति में संशयादि के लिए स्थान ही नहीं हैं, अर्थ अत्यन्त स्पष्ट है। अतः अधिक गवेषणा दिखाना केवल विचारों में उथल-पुथल लाने के सिवाय कोई विशेष महत्त्व नहीं रखता।

वार्त्तिक :—

श्लोकात्मक व्याख्या मात्र को वार्त्तिक नाम कैसे दिया ? ऐसी शंका कुछ लोगों के मन में होती है। उनका ख्याल है कि प्राचीन काल में कतिपय आचार्य मात्र वार्त्तिक लिखते थे। इस शंका का समाधान भामतीटीका कल्पतरुकार के इन शब्दों में हो जाना चाहिए कि—"नहि वार्त्तिकस्य शृङ्गं नाम"—वार्त्तिक का कोई सींग नहीं होता।

उक्तानुक्तदुरुक्तार्थचिन्ता यत्र प्रवर्त्तते।
तं ग्रन्थं वार्त्तिकं प्राहुर्वार्त्तिकज्ञा मनीषिणः॥

जहाँ उक्त, अनुक्त एवं दुरुक्त का चिन्तन किया गया हो वही वार्त्तिक

है। व्याख्या होने से यहाँ उक्तार्थ चिन्तन तो है ही। त्रिसूत्री व्याख्या में अनुक्तार्थ सन्निवेश भी करना पड़ा है। नारदीय सूत्रों में दुरुक्तता न हो, फिर भी दुरुक्तत्वेन प्रतीयमान की चिन्ता मात्र वार्त्तिकत्व प्रयोजक है। जैसे भगवत्पाद भाष्य में दुरुक्त न माने जाने पर भी श्री सुरेश्वराचार्य ने वार्त्तिक लिखा। दुरुक्ततया प्रतीयमान की चिन्ता तो यहाँ पर भी उपलब्ध होगी ही। वस्तुतः सूत्रार्थ रहस्य विवेचन करना मात्र लक्ष्य है। नाम चाहे जो भी हो।

अनुवाद :—

भावार्थ कहीं बाद में दुर्गम न हो जाय इतने मात्र के लिए अत्यन्त संक्षेप में अनुवाद किया गया है। विस्तृत विवेचना अपेक्षित होने पर भी कई कारणों से विस्तार नहीं किया जा सका। एतदर्थ पुनः प्रयास आगे सम्भव है, जैसी भगवत्प्रेरणा होगी।

॥ इति शम् ॥

॥ ॐ ॥

॥ अथ तृतीयः अनुष्ठान खण्डः ॥

॥ अट्ठावनवां सूत्र ॥

• • • • •

क्लेशघ्नी शुभदा मोक्षलघुताकृत्सुदुर्लभा ।
इत्येवमातिदौर्लभ्यं भक्तेर्विद्वाद्भिरीरितम् ॥ १ ॥
मुक्तिं ददामि नो भक्तिमित्येवं भगवानपि ।
भक्तेरत्यन्तदौर्लभ्यं निजगादोद्धवं प्रति ॥ २ ॥
*ज्ञानतः सुलभा मुक्तिर्भुक्तिर्ज्ञानादिपुण्यतः ।
सेयं साधनसाहस्रैर्हरिभक्तिः सुदुर्लभा ॥ ३ ॥*
इत्येवमपरत्रापि तद्दौर्लभ्यं प्रदर्शितम् ।
प्रकाशते क्वापिपात्रे इति देवर्षिणापि च ॥ ४ ॥
इत्थं चामृतरूपायामप्यस्यां फलसंशयात् ।
प्रवृत्तिर्न घटेतेति शास्त्रारम्भो वृथा भवेत् ॥ ५ ॥
कदन्नमपि संत्यज्य गेहं कः सारमेयवत् ।
विभ्राम्येत्परमान्नाय राजप्रासादवीथिषु ॥ ६ ॥

शास्त्रों में जगह-जगह भक्ति को सुदुर्लभ बताया है। हजारों साधनोंसे भी वह प्राप्त नहीं होती। नारदजीने भी .प्रकाशतेक्वापि पात्रे कहा है। अतः वह भले हीअमृतरूप हो, पर तदर्थ प्रयत्न

करने पर भी फल प्राप्ति में संशय है। तब इस भक्ति में कौन प्रवृत्त होगा। फलतः शास्त्रारम्भ भी व्यर्थ होगा। घर की सूखी रोटी अच्छी राजमहल की खीर भी बेकार। जिसके लिए श्वान के समान ठोकरें खाने पर भी मिलने की आशा नहीं है ॥१-६॥

अन्यस्मात् सौलभ्यं भक्तौ ॥५८॥

अन्य साधन साध्यों की अपेक्षा भक्ति ही सुलभ है ॥५८॥

अत्राभिदध्महेऽन्यस्मादू भक्तौ सौलभ्यमस्त्यलम्
सुकरत्वात्साधनानां सुगमत्वात्तदध्वनः ॥ ७ ॥

इसका समाधान यह कि भक्ति में अन्य की अपेक्षा पर्याप्त सुलभता है। क्योंकि इसके साधन सुकर हैं और मार्ग सुगम है ॥७॥

*एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते।
ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः ॥ ८ ॥*

अत्रार्जुनपरिप्रश्ने ह्यक्षरोपासकः पुमान्।
ज्ञानीति भगवत्पादा व्याचख्युः सर्ववेदिनः ॥ ९ ॥

न च भावमयं ज्ञानमिह तावद्विवक्षितम्।
तथा च भक्तिरेवैषा न ज्ञानमिति सांप्रतम् ॥ १०॥

तथापि तत्त्वबोधोप-योग्युपास्तिर्भवेदियम्।
तथा च फलतो ज्ञानं न भक्तिः प्रेमलक्षणा ॥ ११ ॥

न चाग्रे फलसाम्योक्तेर्ज्ञानं नात्रेति सांप्रतम्।
यत ईषदनादृत्य भेदं सेति प्रवक्ष्यते ॥ १२ ॥

भक्ति साधन की सुकरता आदि गीता के बारहवें अध्याय में देखिये, एवम् सततयुक्ता इस अर्जुन प्रश्न में भक्त और ज्ञानी के बारे में प्रश्न है ऐसा आचार्य ने लिखा है। ज्ञानफलक होने से निर्गुणोपासना भी ज्ञानरूप ही है ॥८-१२॥

*मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते ।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः ॥ १२ ॥*

प्रश्ने तदुत्तरे योगवित्तमादिपदद्वयात् ।
उपायवित्तमः प्रोक्तो न प्रशस्ततमः पुनः ॥ १४ ॥

भक्त और ज्ञानी में योगवित्तम कौन ? इस प्रश्न में और भक्त युक्ततम है। इस उत्तर में उपायवित्तम ही विवक्षित है ॥१३-१४॥

*ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते ।
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम् ॥ १५ ॥

संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः ।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः ॥ १६ ॥*

इत्येवं फलसाम्येन फलभेदाप्रसक्तितः ।
उपायसुकरत्वं हि गम्यतेऽत्र विवाक्षितम् ॥ १७ ॥

अक्षरोपासक ज्ञानी भी मुझे ही प्राप्त होते हैं इस प्रकार फलैक्य कहने से साधन की सुकरता और दुष्करता ही प्रश्न और उत्तर का विषय निश्चित होता है ॥१५-१७॥

ननु ज्ञानस्य भक्तेश्च फलभेदः पुरोदितः ।
सत्यं नात्यन्तभेदोऽस्ति ततो नाद्रियतेऽत्र सः ॥ १८॥

आनन्दरूपं स्फुरणं प्रेमानुभवरूपभाक् ।
औपसर्जनिको भेदो हरिणा न समादृतः ॥ १९ ॥

नो चेत्साधनभेदेन साध्यभेदोऽपि कश्चन ।
भवेदवश्यमेवेति फलैक्यं युज्यतां कथम् ॥ २० ॥

यद्यपि ज्ञान और भक्ति का फलभेद पहले बताया है तथापि आनंदोपसृष्ट अनुभव ज्ञान है अनुभवोपसृष्ट आनन्द प्रेम है इस प्रकार औपसर्जनिक भेदमात्र होने से यहाँ उसको महत्व नहीं दिया। अन्यथा साधनभेद से कोई साध्यभेद अवश्य होता और सर्व पक्ष वालों को उसका समाधान ढूँढना ही पड़ता ॥ १८-२०॥

❋क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम् ।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते ॥२१॥❋

अत्र स्पष्टीचकारापि दुर्गमायनतां हरिः ।
तेन न ज्ञानभक्त्योर्हिश्रेयःप्रश्नोऽत्र विद्यते ॥२२॥

अव्यक्तानुगामी ज्ञानियों को बड़े कष्ट से आगे बढ़ना है यहाँ स्पष्ट ही मार्ग की ही कठिनता बता दी गयी है ॥२१-२२॥

❋ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ॥२३॥

तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात् ।
भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम् ॥२४॥❋

अत्र पातभयाभावः स्वयमुद्धर्तृता हरेः ।
अचिरत्वं च संप्रोक्तं भक्तेः सौलभ्यकारणम् ॥२५॥

ये तु सर्वाणि कर्माणि इत्यादि गीता श्लोकों में भक्ति में

पतनभयाभाव, स्वयं हरि की उद्धारकता आदि भक्ति की सुलभता में हेतु बताया है ॥२३–२४॥

इत्थं सुगममार्गत्वादचिरोद्धारतोऽपि च ।
भक्तौ सौलभ्यमेवं हि दृष्टं भागवतादिषु ॥ २६ ॥

*ये वै भगवता प्रोक्ता उपाया ह्यात्मलब्धये ।
अञ्जःपुंसामविदुषां विद्धि भागवतान् हि तान् ॥२७॥

यानास्थाय नरो राजन् न प्रमाद्येत कर्हिचित् ।
धावन्निमील्य वा नेत्रे न स्खलेन्न पतेदिह ॥ २८ ॥*

इस प्रकार सुगम मार्ग और शीघ्रोद्धार सौलभ्यकारण जो बताया वही भागवतादि में भी ये वै भगवता इत्यादि से कहा है ॥ ६–२८॥

पतनस्खलनादीनामभावात्सुलभा यथा ।
अल्पायासप्रसाध्यत्वादपि तामब्रवीत्तथा ॥ २९ ॥

कायेन वाचा मनसा वेन्द्रियादिभिरेव वा ।
कृतं नारायणायेति सर्वं कर्म समर्पयेत् ॥ ३० ॥

पतन स्खलनादि न होने से भक्ति जैसे सुलभ है वैसे अल्पायास साध्य होनेसे भी उसे सुलभ बताया है। शरीर वाणी आदि से होने वाले सब कर्म नारायणाय कह कर समर्पण करें, यह कितनी सुलभ भक्ति है ॥२९–३०॥

अनेकलघुमार्गत्वादप्येषा सुलभा मता ।
तथा च भगवानाह दीनोद्धरणसुव्रतः ॥ ३१ ॥

*मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय ।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्द्ध्वं न संशयः ॥३२॥

अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम् ।
अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनञ्जय ॥ ३३ ॥

अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव ।
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन् सिद्धिमवाप्स्यसि ॥ ३४ ॥

अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्तुं मद्योगमाश्रितः ।
सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान् ॥ ३५ ॥*

भगवान में मन और बुद्धि लगाओ। यदि यह न हो सके तो अभ्यास योग करो, वह भी न हो सके तो भागवत्कर्म करो, वह भी संभव न हो तो कर्मफल त्याग करो, इसी गीता वचन से भक्ति की सुलभता स्पष्ट है ॥३१–३५॥

*यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् ।
यत्तपस्यासि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥ ३६ ॥*

इत्यादावविशेषेण सर्वेषामापि कर्मणाम् ।
वदन् भावेन भक्तित्वं तत्सौलभ्यं न्यरूपयत् ॥३७।

खाना पीना देना चलना आदि सभी कर्म भावविशेष से भक्ति रूप होते हैं यह सूचित कर भक्ति की सुलभता का निरूपण गीता में हुआ है ॥३६-३७॥

नालं द्विजत्वं देवत्वमृषित्वं वासुरात्मजाः ।
प्रीणनाय मुकुन्दस्य न वृत्तं न बहुज्ञता ॥३८॥

न दानं न तपो नेज्या न शौचं न व्रतानि च।
प्रीयतेऽमलया भक्त्या हरिरन्यद् विडम्बनम् ॥३९॥*

विडम्बनमिति भक्तेरन्येषामनपेक्षिता ।
भक्तिसाधनरूपेणाप्यतः सुगमताध्वनिः ॥४०॥

ब्राह्मणादि जातिसे या दानादि से नहीं, भक्तिसे ही भगवान प्रसन्न होते हैं, अन्य सब विडम्बना मात्र है। यहाँ विडम्बना कहने से भक्ति के साधन के रूप में भी पूर्वोक्त की अनपेक्षिता सूचित होती है। अतएव सुगमता भी ध्वनित होती है ॥३८-४०॥

केवलेन हि भावेन गोप्यो गावो नगा मृगाः ।
इत्यत्र केवलपदमप्युक्तार्थसमर्थकम् ॥४१॥

केवल भाव से ही गोपियां गायें पर्वत और मृग भगवान को प्राप्त हुए यहाँ केवल पद भी ध्यान देने योग्य है ॥४१॥

*अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् ।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग् व्यवसितो हि सः ॥४२॥

क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति ।
कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति ॥४३॥*

दुराचारपदेनात्र सर्वसाधननिह्नवः ।
न प्रणश्यति मे भक्त इति चाभयदर्शनम् ॥ ४४॥

अपिचेत्सुदुराचारः इस श्लोक में दुराचारपद से सर्वसाधन निराकरण है। न भक्तः प्रणश्यति यहां अभयता दिखायी है ॥४२-४४॥

मनोज्ञं प्रेयसश्चित्रमास्ते हृदयदर्पणे ।
अञ्जसा समपश्यत्तमीषत्प्रणतकन्धरः ॥४५॥

इत्यादिभक्तवचनेष्वेतदेव निरूपितम् ।
तथान्यत्रापि सौलभ्यं भक्तेरित्थं प्रदर्शितम् ॥४६॥

*तुलसीदलमात्रेण जलस्य चुलुकेन च ।
विक्रीणीते स्वमात्मानं भक्तेभ्यो भक्तवत्सलः ॥४७॥*

ज्यों गर्दन झुका दो देखली, तुलसीदल और चुल्लू भर जल के मूल्य में भगवान अपने आप को बेच देते हैं। इत्यादि वचन भी मार्मिक है ॥४५-४७॥

केचित्तु भक्तौ नास्त्येव साधनानामपेक्षिता ।
अन्येषां तदपेक्षित्वात्तेषां दुर्लभता भवेत् ॥४८॥

तच्चिन्त्यं साधनान्यत्र भक्तावपि महर्षिभिः ।
वर्णितानि कथं तेषां शक्यतेऽत्र निराक्रिया ॥४९॥

कुछ लोगों का कहना है कि भक्ति के लिए साधनों की अपेक्षा ही नहीं है अतः वह सुलभ है। परन्तु यह साधन शास्त्र के विरुद्ध है ॥४८-४९॥

निषेवितेनानिमित्तेन स्वधर्मेण महीयसा ।
क्रियायोगेन शस्तेन नातिहिंस्रेण नित्यशः ॥५०॥

मद्धिष्ण्यदर्शनस्पर्शपूजास्तुत्याभिवन्दनैः ।
भूतेषु मद्भावनया सत्त्वेनासंगमेन च ॥५१॥
महतां बहुमानेन दीनानामनुकम्पया ।
मैत्र्या चैवात्मतुल्येषु यमेन नियमेन च ॥५२॥

आध्यात्मिकानुश्रवणान्नामसंकीर्त्तनाच्च मे ।
आर्जवेनार्यसङ्गेन निरहंक्रियया तथा ॥५३॥
मद्धर्मणो गुणैरेतैः परिसंशुद्ध आशयः ।
पुरुषस्याञ्जसाभ्येति श्रुतमात्रगुणं हि माम् *॥ ५४ ॥
इत्येवं कपिलाख्याने योगीश्वरवचस्यपि ।
देवर्षिसूत्रेष्वपि च साधनानामवेक्षणात् ॥ ५५ ॥

'निषेवितेन' इत्यादि साधन शास्त्र हैं। कपिलाख्यान, योगीश्वर उपदेश एवम् नारदीय सूत्र आदि में साधनों का पुष्कल वर्णन आया है ॥५०–५५॥

न च वाच्यं दुराचारपदात्साधनहेडनम् ।
यतः साधनमेवाह भजते मामनन्यभाक् ॥ ५६ ॥
क्वचित्तु भक्तिसौलभ्यदिदर्शयिषया स्मृतिः ।
अपह्नुते साधनानि न परास्यति सर्वथा ॥ ५७ ॥

'अपि चेत्सुदुराचार' यहां साधन निराकरण नहीं है। क्योंकि भजते मां यही साधन प्रतिपादक है और साधनापलाप भी भक्ति को सुलभता बताने के लिए ही है, न कि साधन के निराकरणार्थं ॥५५–५६॥

क्षिप्रं भवति धर्मात्मेत्यत एव पुनर्जगौ ।
तेन धर्मात्मता पूर्वं पश्चाद्वा भगवन्मता ॥ ५८ ॥
सर्वधर्मान् परित्यज्येत्यत्रापि शरणागतिम् ।
साधनं भगवानाह सा च पूर्वं प्रदर्शिता ॥ ५९ ॥

'क्षिप्रं भवति धर्मात्मा' यह उत्तर कथन अनर्थक होकर यही सूचित करता है कि आगे या पीछे धर्मात्मा होना आवश्यक है। सर्वधर्मान् परित्यज्य इस श्लोक में मामेकं शरणं व्रज, इस प्रकार शरणागति को साधन बताया है। शरणागति की व्याख्या तृतीय सूत्र के वार्तिक में देखें ॥५८-५९॥

स्वयमेव हरिर्भक्त-साहाय्यं विदधात्यतः ।
उच्यते भक्तिसौलभ्यं न त्वसाधनतावशात् ॥ ६० ॥
द्विपदं हरिरायाति भक्तेनैकपदक्रमे ।
एकेनोरुक्रमो भक्तमुपैत्यन्यद्विडम्बकृत् ॥ ६१ ॥

भगवान स्वयं भक्त की सहायता करते हैं अतः भक्ति सुलभ है, न कि बिल्कुल साधनापेक्षा न होने से। भक्त एकपद आगे बढ़ाता है तो भगवान दो पग आगे बढ़ाते हैं। उनमें उरुक्रम होने से एक ही पग में भगवान भक्त के पास पहुँच जाते हैं। दूसरा तो उक्त कहावत चरितार्थ करने के लिए केवल विडम्बनमात्र हो जाता है ॥६०–६१॥

ज्ञानादावतियत्नेन संपाद्यं सर्वसाधनम् ।
भक्तौ तु करुणासिन्धुः स्वयं साधयते प्रभुः ॥ ६२ ॥

ज्ञानादि में अतिपरिश्रम से स्वयं साधन संपादन करना पड़ता है। और भक्ति में दयालु भगवान स्वयं साधन सम्पन्न करा देते हैं ॥६२॥

अन्ये तु स्वयमेवास्ति प्रीतिः सर्वस्य चेतसि ।
दारादौ सैव भक्तिः स्याद्धरौ तत्परिवर्त्तनात् ॥ ६३ ॥

तत एव च सौलभ्यमस्या इत्येवमूचिरे।
चिन्त्यं तदपि तुल्यत्वाज्ज्ञानस्यापि तथात्वतः ॥६४॥

दूसरे लोग कहते हैं कि प्रेम दारपुत्रादि में सब का स्वतः सिद्ध है सिर्फ उसे भगवान में लगाना है अतः भक्ति सुलभ है। परंतु यह भी चिन्त्य है। कारण, ज्ञान भी तो उसी प्रकार स्वयं सिद्ध है ॥६३-६४॥

किं च दारादिविषयप्रीतेर्भक्तिर्विभिद्यते।
उपपादितमेतच्च पुर इत्युपरम्यते ॥ ६५ ॥

ॐ

दूसरी बात दारादि प्रीति से भक्ति पृथक् है यह पहले ही कह आये हैं ॥६५॥

ॐ

एवं विवक्षितमपि सौलभ्ये कारणं मुनिः।
विस्पष्टमित्युपेक्ष्यैव हेत्वन्तरमिदं जगौ ॥ १ ॥

पूर्व सूत्र के वार्त्तिक में भक्ति की सुभलता में हेतु दिखाया। वह विवक्षित होने पर भी अति स्पष्ट होने से उसे छोड़कर देवर्षि यहां दूसरा हेतु दिखाते हैं:—॥१॥

प्रमाणान्तरस्यानपेक्षत्वात्स्वयं प्रमाणत्वात् ॥५९॥

क्योंकि भक्ति में प्रमाणान्तर की अपेक्षा नहीं है, वह स्वयं प्रमाण रूप है ॥५९॥

आत्मा शरीरमित्येके खानीत्यन्ये मनः परे ।
क्षणिकं ज्ञानमेके च नित्यं ज्ञानमितीतरे ॥ २ ॥

सजातीयविजातीयस्वीयभेदत्रयोज्झितम् ।
आत्मरूपं जगुर्ब्रह्म केचिदन्ये तथान्यथा ॥ ३ ॥

विश्वं सत्यं कतिचन कतिचित्कतिचिन्मृषा ।
दृश्यं सकलमप्येव जगन्मिथ्येति चापरे ॥ ४ ॥

स्वयंसिद्धस्वरूपेण ब्रह्म स्वीकृतमप्यदः ।
अनन्तमतभेदेन न निर्णीतिमुपागतम् ॥ ५ ॥

श्रुतिभिः स्मृतिभिश्चैव पुराणादिभिरेव च ।
अद्यापि निर्णिनीषन्ति ब्रह्म विज्ञातमप्यदः ॥ ६ ॥

कहने के लिये तो ब्रह्म स्वयं सिद्ध है, पर आज तक उसके स्वरूप के बारे में कोई निर्णय हुआ कहना कठिन है। कोई उसे एक कोई अनेक कोई तो शरीर रूप, और कोई शरीरादि से पृथक मानते हैं। जगत को भी सत्य और मिथ्या और कोई आधा सत्य मानते हैं ॥२–६॥

योगो धर्मादयश्चैव शास्त्रैकविषयत्वतः ।
क्व निर्णीतस्वरूपाः स्युः संपद्यन्तां क्व वाञ्जसा ॥७॥

योग एवम् धर्मादि शास्त्र मात्र गोचर है। उनका स्वरूप निर्णय कहां होता है और उनको प्राप्त करना भी कठिन है ॥७॥

भक्तिस्तु लेशतोऽप्येषा प्राप्ता स्वानुभवस्थिता ।
न संशयपथं याति प्रात्यक्षफलरूपिणी ॥ ८ ॥

भक्ति ही एक ऐसी है कि प्राप्त होने पर उसमें कोई संशय नहीं रहता ॥८॥

ननु वृत्त्यात्मिका भक्तिरित्येके परिचक्षते ।
अपरे ह्लादिनीं शक्तिमन्येऽनिर्वाच्यरूपिणीम् ॥९॥
तथा च भक्तेरपि न स्वयं प्रामाण्यमाञ्जसम् ।
नैवमप्राप्तभक्तीनां विवादोऽयं विवादिनाम् ॥१०॥

भक्ति में भी वह वृत्ति है, ह्लादिनी शक्ति है, अनिर्वचनीय है ऐसा मतभेद है अतः स्वयं प्रमाण कैसे ? इस शंका का समाधान यह है कि ये सब मतभेद भक्तिहीन केवल विवादकारियों का है ॥९-१०॥

नन्वेवं संशयो ब्रह्मण्यप्राप्तब्रह्मणां भवेत् ।
एवमप्राप्तयोगादेर्योगादौ संशयो भवेत् ॥११॥
नैवमस्म्यहमित्येवं ज्ञायते ब्रह्म हृद्गतम् ।
तथापि संशयस्तत्र महान् जागर्त्ति वादिनाम् ॥१२॥
बहुधा प्राप्तयोगानामपि किंकार्यमग्रतः ।
इति नो निर्णयस्तेऽतः संश्रयन्तेऽपरान् गुरून् ॥१३॥

यदि कहें कि ब्रह्म प्राप्त न होने से ही ब्रह्म में भी वाद करते हैं यही स्थिति योगादि की भी है तो उसका उत्तर यह 'मैं हूँ' इस प्रकार हृदयगत ब्रह्म का साक्षात्कार होता है फिर भी ब्रह्म के बारे में विवाद है। योग प्राप्त होने पर और आगे क्या करना इस विषय में संशय होता है ॥११-१३॥

*प्रज्ञामान्द्यं कुतर्कश्च विपर्ययदुराग्रहः ।
विषयासक्तिरित्येते ज्ञानस्य प्रतिबन्धकाः* ॥ १४ ॥

शास्त्रादितो ज्ञातमपि कुतर्कादिवशात्पुमान् ।
तत्त्वमित्थंमनित्थं वेत्येवं सन्देग्धि भूरिशः ॥१५॥

न लेशसंशयोऽप्यत्र प्राप्ते प्रेमणि विद्यते ।
विवादस्यावकाशो हि तच्चित्ते क्वावतिष्ठते ॥१६॥

वरं कामयमानाया वृत्तिर्वा ह्लादिनी किमु ।
कामोऽयमिति सन्देहः कुतस्तावत्प्रसज्यते ॥१७॥

प्रज्ञा की मन्दता कुतर्क इत्यादि ज्ञान के प्रतिबन्धक हैं और ज्ञात वस्तु में भी संशयोत्पादक है, पर प्राप्त प्रेम में न तो संशय होता है और न संशय के लिए प्रेमी को अवकाश ही रहता है। कोई कन्या वर की कामना करती है तो यह कामना वृत्ति है या ह्लादिनी शक्ति है यह सब सोचने की उसको कहां से फुर्सत मिलेगी ॥१४–१७॥

किं चान्यद्, मतभेदेन ज्ञानं दौर्बल्यमाप्नुयात् ।
पुरुषार्थासमर्थं च विरोधी संशयो यतः ॥ १८ ॥

मतभेदस्तु न प्रेम्णो जनौ वृद्धौ च बाधकः ।
प्राप्तं प्रवर्धते नित्यमन्यहेत्वनपेक्षणात् ॥ १९ ॥

बाह्यस्वरूपयाथात्म्यविवेकरहितैरपि ।
रसालरसमास्वाद्य तृप्तिः किं नानुभूयते ॥ २० ॥

द्रव्याद् भिन्नमुताभिन्नं भिन्नाभिन्नं हि वा रसम् ।
तार्किकास्तर्कयन्त्यद्धाऽऽस्वदन्ते रसिका रसम् ॥२१॥

दूसरी बात यह कि स्वरूप संशय होने पर ज्ञान निकम्मा हो जाता है। किन्तु प्रेम में ऐसी बात नहीं है। द्रव्य से रस गुण भिन्न हो या अभिन्न हो या भिन्नाभिन्न। इस संशय से आस्वादन करने वालों को क्या मतलब? वे तो रस पीकर तृप्त हो जाते हैं ॥१८-२१॥

ननु प्रमाणरूपैव न भक्तिः प्रेमलक्षणा ।
प्रमाणान्तरशब्दोऽयं कथं नासोपपद्यताम् ॥ २२ ॥

स्वयंप्रमाणरूपत्वमप्यस्याः कथमुच्यते ।
तन्नानुभवरूपं हि प्रेमेत्युक्तं पुरर्षिणा ॥ २३ ॥

प्रेम तो प्रमाणरूप ही नहीं है, तब प्रमाणान्तरशब्द तो अर्थ शून्य है और स्वयं प्रमाण कहना भी समञ्जस नहीं है इस पूर्वपक्ष का उत्तर यह कि पहले ही यह कह आये हैं कि प्रेम अनुभव रूप है ॥२२-२३॥

यद्यपि स्वप्रभं ब्रह्म किन्तु शास्त्राद्यपेक्षते ।
न प्रेमेत्याशयेनात्रापेक्षाशब्दसमादरः ॥२४॥

स्वयं प्रकाश होने पर भी ब्रह्म के लिए शास्त्रापेक्षा होती है किन्तु प्रेम के लिए नहीं इस आशय से अपेक्षाशब्द का उपादान किया ॥२४॥

ननु जिह्वामिव रसो निजास्वादनहेतवे ।
अपेक्षतां किंचिदतः स्वप्रमाणात्मतां जगौ ॥२५॥

भिन्नाभिन्नादिवाद परिहारार्थं अन्यापेक्षा न हो, तथापि रस

अपने आस्वादन के लिए जिह्वा की अपेक्षा जिस प्रकार रखता है वैसे प्रेमरस अपने आस्वादन के लिए अन्यापेक्षी हो इस शङ्का का समाधान करने के लिये सूत्र में स्वयं प्रमाणरूपत्वात् कहा ॥२५॥

न च प्रेमरसास्वादे मनोऽपेक्षेति सांप्रतम् ।
मनोवृत्त्यावृतेर्भङ्गमात्रं प्राग्दर्शितं यतः ॥२६॥

मन की भी अपेक्षा वृत्ति द्वारा आवरण भंगमात्रार्थ है यह कह आये हैं ॥२६॥

न वात्मा भासयेत्प्रेम यतः प्रेमणि जाग्रति ।
आत्मा प्रेममयोऽयं स्यादिद्धोऽग्निमयं यथा ॥२७॥

आत्मा प्रेम को प्रकाशित करता है यह कहना भी संगत नहीं है क्योंकि प्रेम होने पर आत्मा स्वयं प्रेममय होता है। जैसे अग्नि लगने पर लकड़ी अग्निमय हो जाती है ॥२७॥

अन्ये व्याचक्षते सूत्रे प्रमाणेत्युपलक्षणम् ।
यतः साधनसामान्यनैरपेक्ष्यमिहेक्ष्यते ॥२८॥

कथं तर्हि प्रमाणेति कथितं मुनिनेति चेत् ।
प्रमारूपं यतः प्रेम प्रमाणं तस्य साधनम् ॥२९॥

एतदुक्तमभिव्यङ्ग्यं प्रेमावरणभङ्गतः ।
नोत्पाद्यं कारकं नातः प्रमाणं भक्तिसाधनम् ॥३०॥

दूसरे प्रकार सेव्याख्या है—सूत्र में प्रमाणपद साधन मात्र का उपलक्षण है। प्रेम प्रमारूप होता है। अतः श्री नारदजी ने प्रमाणपद कहा है। अभिप्राय यह कि आवरण भंग से प्रेम अभिव्यक्त होता है, उपतपन्न नहीं होता। अतः भक्ति का साधन कारक नहीं है किन्तु प्रमापक है ॥२८-३०॥

भक्त्या संजातया भक्त्येत्यन्यसाधनहेडनात् ।
स्वयं साधनता सिद्धा सौलभ्यं च ततः स्थितम् ॥३१॥

भक्ति से उत्पन्न हुई भक्ति इस भागवतोक्ति से स्वयं साधनता सिद्ध होती है, अतएव भक्ति सुलभ भी निश्चित होती है ॥३१॥

यत्र साधननानात्वं यत्र च प्रतिबन्धकाः ।
प्रसक्तिर्यत्र पातादेस्तद्दौर्लभ्यं हि संमतम् ॥ ३२ ॥

जहाँ साधन नाना है वहां रुकावटें अनेक होती हैं, और जिसमें पतनादि का भय होता है वही दुर्लभ माना जाता है ॥३२॥

ननु साधननानात्वं भक्तावपि विलोक्यते ।
उक्तं तद्वक्ष्यते चाग्रे प्रतिबन्धश्च वीक्ष्यते ॥ ३३ ॥

यद्यपि भक्ति में भी नानासाधन पहले बताये, आगे भी बतायेंगे और अनेक प्रतिबन्ध भक्ति में भी होते हैं ॥३३॥

सत्यं तथापि सर्वाणि सम्पद्यन्ते हि भक्तितः ।
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा भक्तिमानिति दर्शनात् ॥३४॥

तथापि सभी केवल भक्ति से ठीक हो जाते हैं ॥३४॥

यत्तु कश्चिच्छशङ्केऽन्यप्रमाणनिरपेक्षिणः ।
स्वयं प्रमाणरूपत्वं पुनः कस्माद्विशेष्यते ॥ ३५ ॥

न च मानान्तरापेक्षाशून्यतास्ति नभःसुमे ।
तद्वारणाय तस्यास्ति सार्थक्यमिति सांप्रतम् ॥३६॥

अन्यत्प्रमाणं यस्माद्धि प्रमाणान्तरमुच्यते ।
किंचित्प्रमाणमस्तीति तेनार्थादेव गम्यते ॥ ३७ ॥

अन्यथा हि प्रमाणानपेक्षत्वं ह्यभ्यधास्यत ।
न चासति नृशृङ्गादौ प्रमाणं किंचिदीक्ष्यते ॥३८॥

न च ब्रह्मण्यतिव्याप्तिर्ज्ञानादौ चेति सांप्रतम् ।
स्वयंप्रमाणतोक्तावप्यत्रातिव्याप्त्यवारणात् ॥ ३९ ॥

किसी ने यहां शङ्का की 'प्रमाणान्तरनपेक्षत्वात' से ही गतार्थ है फिर "स्वयं प्रमाणरूपत्वात्" कहने की क्या आवश्यकता ? आकाशपुष्पादि में अतिव्याप्ति नहीं हो सकती। कारण प्रमाणान्तर की अपेक्षा नहीं है कहने पर कुछ प्रमाण तो है यह अर्थ निकलता है और आकाशपुष्पादि में तो कुछ भी प्रमाण नहीं है। ब्रह्म में और ज्ञानादि में अतिव्याप्ति तो स्वयंप्रमाणत्व कहने पर भी वारित नहीं हो सकती ॥३५-३९॥

एषा शङ्का पराख्याता साधनार्थाभ्युपायनात् ।
ब्रह्मणो नहि केनापि साधनात्मत्वमिष्यते ॥ ४० ॥

यह शंका प्रमाणपद का साधन अर्थ मानने से निवृत्त होती है। ब्रह्म किसी के मत में साधनरूप नहीं है ॥४०॥

न चान्तरपदेनैव ब्रह्मणो वारणं भवेत् ।
यतो न लक्षणं तावदिह प्रेम्ण उदीर्यते ॥ ४१ ॥

स्वयं साधनरूपत्वमन्यत्रादृष्टपूर्वकम् ।
ततश्चार्थान्तराशङ्का मा भूदिति तदीरितम् ॥ ४२ ॥

साधनान्तरसापेक्षभिन्नत्वोक्तौ ततोऽर्थतः ।
स्वयं साधनरूपत्वमप्रसिद्धं न लभ्यते ॥ ४३ ॥

अन्तरपद से ही ब्रह्म की व्यावृत्ति हो सकती है इत्यादि शङ्का यहां नहीं हो सकती, कारण यह लक्षण का प्रकरण नहीं है। स्वयं साधनरूपता अन्यत्र कहीं प्रसिद्ध नहीं है। अतः प्रमाणान्तर अनपेक्षत्वकथनमात्र से स्वयं साधनता सिद्ध न होगी। लोग उसका अर्थ कुछ और ही करने लगेंगे। अतः शब्दतः स्वयंसाधनताकथन सार्थक है ॥४१-४३॥

अन्येऽनुव्यवसायादावतिव्याप्तिर्भवेदतः ।
स्वयं प्रमाणरूपत्वमब्रवीन्मुनिपुङ्गवः ॥ ४४ ॥

साध्यं च साधनं चैव फलं च भगवानपि ।
भक्त्या प्रमीयते सर्वं नान्यन्मानमपेक्षितम् ॥ ४५ ॥

साध्यं ज्ञानं फलं मुक्तिः साधनं श्रवणादिकम् ।
ज्ञानस्थलेऽत्र भक्तिर्हि साध्यहेतुफलात्मिका ॥ ४६ ॥

दूसरे लोग सूत्र की व्याख्या ऐसी करते हैं कि अनुव्यवसाय में अतिव्याप्तिवारणार्थ स्वयं प्रमाणरूपत्व कहा। साध्य, साधन, फल और भगवान इन सब को जानने के लिए अन्य प्रमाण की आवश्यकता नहीं है। भक्ति प्रमाणरूप है। उसी से सब का ज्ञान होगा। ज्ञान स्थल में साध्य ज्ञान है, फल मोक्ष है, साधन श्रवणादि है। परन्तु भक्ति स्थल में ये तीनों भक्ति ही हैं ॥४४-४६॥

आस्तां भक्तिः फलं साध्यं साधनं ननु तेन किम् ।
अप्रमाणस्वरूपत्वात् कथं सर्वं प्रमीयताम् ॥ ४७ ॥

उच्यते परमेशस्यानिर्वाच्या शक्तिरेव सा ।
स्वयंप्रमाणरूपत्वे तत्राश्चर्यं किमेव ते ॥ ४८ ॥

भक्ता भूतं भविष्यच्च भक्त्या जानन्ति तत्त्वतः।
अलौकिकः संनिकर्षस्तत्र भक्तिर्न संशयः ॥ ४९ ॥

खैर, भक्ति साध्य साधनफलरूपिणी हो। पर प्रमाणरूप तो नहीं है ? इस का उत्तर यह कि भगवान की अनिर्वचनीय शक्ति रूप भक्ति प्रमाण भी है। अतएव भक्त भूत भविष्य को भी जान लेते हैं। वहां अलौकिक संनिकर्ष तो भक्ति ही सम्भव है, अन्य नहीं ॥४७–४९॥

इत्याकूतं परे प्राहुः सौलभ्यं सर्वथापि हि।
भक्तेः स्पष्टं ततो नार्थे विवादं कुर्महेऽधिकम् ॥५०॥

ऐसा भावार्थ दूसरे लोग कहते हैं। सर्वथापि भक्ति सुलभ है यह निश्चित है। अतः सूत्रार्थ में हम विवाद अधिक नहीं करेंगे ॥५०॥

स्वयंफलस्वरूपत्वं प्रागेव मुनिनोदितम्।
स्वयंप्रमाणरूपत्वमिहेदं समुदीरितम् ॥ ५१ ॥

पहले स्वयं फलरूपता बतायी थी। यहाँ स्वयं प्रमाण रूपता कही गयी ॥५१॥

ॐ

—०—

यदर्थं सकलो लोको यत्नवांस्तत्स्वरूपिणी।
भक्तिस्ततः सा सुलभा स्वाभाव्यादित्युदीर्यते ॥१॥

ॐ

जिस (शान्ति आदि) के लिए सभी प्रयत्नशील हैं भक्ति का

वही स्वरूप है। अतः वह स्वाभाविक होने से सुलभ है यह उत्तर सूत्र में कहते हैं ॥१॥

अन्ये भक्तेर्महीयस्त्वं त्रिसूत्र्या विनिवेद्यते।
सौलभ्यमित्यतः शेषस्ततो भक्तिर्महीयसी ॥ २ ॥

स्वयंप्रमाणतादिश्च महीयस्त्वोपपादकः।
न तु सौलभ्यहेतुः स इति व्याचक्षते बुधाः ॥ ३ ॥

दूसरों की व्याख्या है कि अन्यस्मात्सौलभ्यं भक्तौ इत्यादि तीन सूत्रों में भक्ति की महिमा बताई है। सौलभ्यं के बाद इस लिए भक्ति उत्तम है ऐसा शेषपूरण करना चाहिए। उसी उत्तमता के उपपादक उत्तर दो सूत्र हैं ॥२–३॥

लाति भाति च या सुष्ठु तद्भाव इति विग्रहे।
सौलभ्यं सौष्ठवं वक्ति फलतोऽपि स्वरूपतः ॥ ४ ॥

प्रमाणान्तरसापेक्षमस्वतन्त्रमतः फलम्।
न सुष्ठु कुरुते भक्तिरतद्रूपेति सा सुला ॥ ५ ॥

स्वरूपतोऽपि सा सुष्ठु भाति शान्त्यादिरूपतः।
इत्येतदधुना प्राह शान्तीत्यन्ये प्रचक्षते ॥ ६ ॥

अन्य लोग व्याख्या करते हैं कि सु–ल–भ का अर्थ है जो अच्छा फल लाता हो और जो स्वयं अच्छा भासता हो। (ल में सामान्ये नपुंसक प्रयोग है) सुफलता में हेतु प्रमाणान्तरानपेक्षत्व सूत्र में बताया है। जो प्रमाणान्तरसापेक्ष होता है वह परतन्त्र होने से सुफलदायी नहीं होता। अब वह स्वयं सुखरूप है यह बात शान्तिरूपात् इत्यादि सूत्र से कहते हैं ॥४–६॥

शान्तिरूपात् परमानन्दरूपाच्च॥६०।

तथा वह (भक्ति) शान्तिरूप एवं परमानन्दरूप है। (इसलिए भक्ति सुलभ है) ।।६०।।

ननु व्याकुलता दृष्टा कथं शान्तिस्वरूपता ।
सत्यं, व्याकुलतायां हि परा शान्तिर्व्यवस्थिता ॥७॥

शङ्का यह होगी कि प्रेम में व्याकुलता होती है शान्ति कहाँ है? उत्तर यह कि इस व्याकुलता में ही परम शान्ति निहित है ।।७।।

न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम् ।
असुखे क्व प्रवृत्तिः स्यात्प्रेम्णि सर्वः प्रवर्त्तते ॥ ८ ॥
सति प्रेमणि सर्वाणि कार्याण्यक्लेशवन्ति हि ।
असति प्रेमणि क्लेशभूयिष्ठान्यखिलान्यपि ॥ ९ ॥
या ह्यन्यान्यपि च क्लेशरहितानि करोति सा
स्वयं शान्तिस्वरूपेति सिद्धं कैमुतिकान्नयात् ॥ १० ॥

प्रेम हो तो सभी सुखमय हैं। विपरीत में दुःखमय है। सुख शान्ति से होता है। फलतः भक्ति शान्तिस्वरूप सिद्ध होती है ।।८-१०।।

शान्ती रूपं शान्तिरूपं तस्मात्तद्धत्त्वकारणात् ।
शान्तिः प्रशम एवात्र खानां च मनसोऽपि च ॥११॥

शान्ति ही रूप है प्रेम का। मन और इन्द्रियों का प्रशम-शान्ति है ।।११।।

सुखेनापहृतं चित्तं करौ नो निष्क्रियौ कृतौ।
पादौ पदं न चलतो यामः कुर्मश्च किं कथम् ॥१२॥

'चित्तं सुखेन भवतापहृतं' इस श्लोक में गोपिकायें इन्द्रियप्रशम इस प्रकार बता रही हैं कि—हे भगवन्! आपने चित्त हर लिया। हाथों को निष्क्रिय बनाया। पांव एक पग भी पीछे नहीं चलते हम कैसे वापिस जायें और करें क्या ॥१२॥

वृषा गावो मृगाश्चैव तद्वेणुहृतचेतसः।
धृतकर्णा दन्तदष्टकवलाश्चित्रवत्स्थिताः ॥ १३ ॥

सांड, गाय एवम् मृग वेणुवादन से स्तब्ध होकर कान ऊँचे कर मुँह में पड़ी घास बिना खाये चित्र के समान रह गये ॥१३॥

इत्यादिकं भागवते तत्र तत्र परिस्फुटम्।
इन्द्रियोपरमं प्राहुर्गोपकन्याः सचेतसाम् ॥ १४ ॥

भागवत में यह बात तत्र तत्र स्पष्ट है ॥१४॥

परमानन्द एतस्या रूपं परमुपेयते।
यो हि नित्यश्च निरति-शयश्च परमः स तु ॥ १५ ॥

नित्य निरतिशय आनन्द भी भक्ति का रूप है ॥१५॥

नन्वानन्दो भवेद्रूपं यदि स्याद्रूपिणी हि का।
न च वाच्यं रूपिणी चित् यतो रूपं हि सापि वः ॥१६॥

यदि आनन्द भी रूप है तो रूपिणी भक्ति कौन है? चित् रूपिणी नहीं है,कारण वह रूप ही है, यह अनुभवरूपं में कहा गया है ॥१६॥

न च वाच्यं रूपवत् सत् सर्वत्राप्यविशेषतः ।
न चैतत्त्रितयादन्यत् किंचिदप्यभ्युपेयते ॥ १७॥

सत् भी रूपवान नहीं है कारण सत्त्व चेतनाचेतन साधारण है। वह भक्ति कैसे हो सकता है। और सत् चित् आनन्द से अन्य कोई रूपी अप्रसिद्ध है॥१७॥

अत्राहू रूपशब्दोऽयं स्वरूपार्थावबोधकः ।
तस्मादानन्द एवात्र रूपिणी भक्तिरिष्यते ॥ १८ ॥

इस प्रश्न का उत्तर कुछ मनीषी यह देते हैं कि आनन्द ही रूपवती भक्ति है। सूत्र में रूप शब्द का स्वरूप अर्थ है ॥१८॥

परे तु भक्तेरानन्दोऽप्येव रूपं न रूप्यथम् ।
न चाप्रसिद्धिर्यस्मात् सा ह्यनिर्वाच्येत्युदीरितम् ॥ १९ ॥

महापुरुषों का कहना है कि आनन्द भी भक्ति का रूप ही है रूपी नहीं है। सत्चित् आनन्द से अन्य अप्रसिद्ध है, ऐसी बात नहीं है। कारण भक्ति अनिर्वचनीयस्वरूपा है यह पहले कहा गया है॥१९॥

श्रीकृष्णाकर्षिणी भक्तिर्नानन्दः कर्षको मतः ।
न कर्षेद्विषयानन्दो मोक्षानादोऽपि वा हरिम् ॥ २० ॥

भक्ति भगवान को आकृष्ट करती है। परंतु आनन्द आकर्षक नहीं होता। न विषयानन्द ही हरि को आकृष्ट करता है और न मोक्षानन्द ही ॥२०॥

चिद्रूपानन्दरूपा च रसमात्रकलेवरा ।
भक्तिर्विजयते काचित् श्रीकृष्णाकर्षिणी शिवा ॥२१॥

चिद्रूपिणी आनन्दरूपिणी रसमालगात्रा अनिर्वचनीय भक्ति की जय हो जो सर्वाकर्षक श्रीकृष्ण का आकर्षण करती है ॥२१॥

सद्रूपेण पुरा बुद्धा चिद्रूपणे ततः परम् ।
आनन्दरूपतोऽन्ते च भक्तिर्जयति कापि सा ॥ २२ ॥

भक्ति कोई है, ऐसा प्रथम ज्ञात हुआ। फिर अनुभव रूप मालुम पड़ा। फिर आनन्दरूप ज्ञात हुआ। उस अनिर्वचनीय भक्ति की जय हो ॥२२॥

श्रीकृष्णाकर्षिणीं भक्तिं सच्चिदानन्दरूपिणीम् ।
सलक्षणामपि भजे कामपीमां विलक्षणाम् ॥ २३ ॥
वन्दे गुरुपदद्वन्द्वं सर्वद्वन्द्वोपमर्दनम् ।
यत्प्रसादात्परं तत्त्वं चित्ते मम समस्फुरत् ॥ २४ ॥
यस्य चाह्लादिनी शक्तिर्जगदाकर्षिणी मता
तं वन्दे सच्चिदानन्दं भक्तेः परवशं हरिम् ॥२५॥
यस्मिन्नात्मा गुरुश्चैव हरिश्च जगदेव च ।
तरङ्गफेनवद्दृष्टास्तं प्रेमाणमजं भजे ॥ २६ ॥

श्री कृष्णाकर्षिणीं इत्यादि, चार श्लोकि मंगलार्थ है ॥२३-२६

ॐ

भक्तिमहीयस्त्वसौलभ्यादिविचारः ॥

—०—

ॐ

ननु सौलभ्यमात्रं न किमित्युक्तं महर्षिणा।
अन्यस्मादिति कस्माद्धि समयोजि विशेषणम् ॥ १ ॥
अत्रोच्यते न सुलभा सर्वथा कानिचित्पुनः।
साधनान्यत्र कार्याणि तान्युच्यन्तेऽधुनर्षिणा ॥ २ ॥

'सौलभ्यं भक्तौ' इतना ही कहना था। अन्यस्मात् क्यों जोड़ा ? इसका मतलब यही कि कुछ साधन यहाँ भी आवश्यक हैं। उन्हें अब बताते हैं ॥१-२॥

अथवा मार्जनाद्यद्वन्मार्गान्निर्यान्ति कण्टकाः।
अन्यथा दुःखदं यानं भवेत्तद्वदिहापि च ॥ ३ ॥
ईषदायासकरणान्मार्गो निष्कण्टको भवेत्।
अत अवश्यकं किंचिदधुना परिदर्श्यते ॥ ४ ॥

स्वयंसाधन भक्तिमार्ग में साधनान्तर की आवश्यकता यदि सह्य न हो तो उत्तर सूत्र की अवतरणिका यों दीजिये कि कांटेवाले मार्ग से वैसे तो चल सकते हैं, परंतु थोड़ा आयास करने पर अर्थात् झाड़ू लगा देने पर सुख पूर्वक गमनागमन हो सकता है। वैसे अल्पायास से भक्ति मार्ग सुगम हो सकता है। अतः आवश्यक साधन बताते हैं ॥३–४॥

यद्यपीशः स्वयं त्याज्यं त्याजयेद् ग्राहयेत् परम्।
तथापि शीघ्रफलदं साधकैस्तत्स्वयंकृतम् ॥ ५ ॥

यद्यपि त्याज्य त्याग और ग्राह्य ग्रहण भी भगवान स्वयं करा देते हैं तथापि साधक ही उसे स्वयं कर ले तो शीघ्र फलप्रद होता है ॥५॥

लोकहानौ चिन्ता न कार्या निवेदि-तात्मलोकवेदत्वात् ॥६१॥

लोक हानि के निमित्त चिन्ता न करनी चाहिये। क्योंकि आत्मा लोक और वेद को भक्त ने भगवान को निवेदन किया है ॥६१॥

आनुकूल्यस्य संकल्पः प्रातिकूल्यविवर्जनम्।
रक्षिष्यतीति विश्वासो गोप्तृत्वे वरणं तथा ॥ ६ ॥
आत्मनिक्षेपकार्पण्ये षड्विधा शरणागतिः।
तां विधाय परित्याज्या चिन्ता भक्तैरशेषतः ॥ ७ ॥

(१) भगवान अनुकूल ही हैं, (२) प्रतिकूल कभी नहीं, (३) अवश्य रक्षा करेंगे (४)वे ही मेरे रक्षक हो, ये भावनायें (५) आत्म समर्पण, (६) और दीनता इस षोढा शरणागति कर भक्त को सर्व चिन्ताविनिर्मुक्त होना चाहिये ॥६-७॥

निवेदितेति सूत्रेऽस्मिन्निष्ठा स्यादादिकर्मणि।
जाते निवेदने पश्चाच्चिन्तादेरप्रसक्तितः ॥ ८ ॥
यदि तत्र ममत्वं स्यान्नैव तर्हि निवेदनम्।
स्वस्वत्वस्य परित्यागो निवेदनमुदीरितम् ॥ ९ ॥

सूत्र में निवेदित पद में आदिकर्म में निष्ठा (त) प्रत्यय है। आत्मादि का निवेदन प्रारम्भ जिस ने किया, यह अर्थ है। क्योंकि निवेदन होने के बाद फिर चिन्ता की प्रसक्ति ही नहीं होती है। अतः उसका निषेध भी व्यर्थ होगा। निवेदन का अर्थ है अपने स्वत्व का परित्याग ॥८-९॥

ननु विप्राय गां दत्त्वा चिन्ता सद्भिर्विधीयते ।
मा सा रुग्णा भवेद्येन विप्रो दुःखमवाप्नुयात् ।। १० ।।
सत्यं तथाविधामत्राप्यत्याज्यां मन्महे वयम् ।
प्रेम्णि तद्दुःखदुःखित्वं यत ऊरीकृतं पुरा ।। ११ ।।
तस्मात्तादृशचिन्ताया न त्यागोऽत्रोपदिश्यते ।
अतो निष्ठाऽत्र भूतार्थं स्वीकर्तुं नहि युज्यते ।। १२ ।।

यदि कहें कि निवेदन के बाद भी चिन्ता प्रसक्त है। जैसे ब्राह्मण को गाय देकर उसकी रक्षा की चिन्ता होती है, कहीं इस गाय के कारण ब्राह्मण को कष्ट न हो इत्यादि। अतः प्रसक्त चिन्ता का ही यह निषेध है, तो इसका उत्तर यह है, वैसी चिन्ता भक्ति में त्याज्य नहीं कही जा सकती। कारण प्रिय के दुःख से प्रेमी दुःखी होता है। यदि समर्पित वस्तु से प्रिय को दुःख हो जाय तो चिन्ता प्रेमी को होना ही चाहिये। इसलिए वैसी चिन्ता का त्याग करने के लिए यहाँ नहीं कहा जा रहा है ।।१०–१२।।

यद्वा निवेदितेत्यादि भविष्यद्वृत्तितोऽब्रवीत् ।
तथाभूतो भविष्यन् न चिन्तां कुर्यात्पुरैव सः ।।१३।।

अथवा 'निवेदितात्मलोकवेदत्वात्' यह भविष्यद्वृत्ति से प्रयोग है। चूँकि निवेदितात्मलोकवेद होना है अतः पहले ही से चिन्ता का परित्याग करें ऐसा सूत्रार्थ है ।१३।।

ल्यब्लोपे पञ्चमी वात्र द्वितीयार्थाभिधायिनी ।
निवेदितात्मतां प्राप्य कुर्याच्चिन्तां न धीरधीः ।। १४ ।।

अथवा यहाँ ल्यब्लोप में पञ्चमी है अर्थात् आत्मलोकादि का निवेदन करके चिन्ता छोड़ देवें यह अर्थ है ।।१४।।

अत्राहुर्वल्लभाचार्या नवश्लोक्यां शुभंयवः ।
निवेदितात्मभिश्चिन्ता कार्या क्वापि कदापि न ॥१५॥

नवश्लोकी ग्रंथ में श्रीमद्वल्लभाचार्य ने कहा है कि आत्म-निवेदन करने वाले कहीं भी कभी भी चिन्ता न करें ॥१५॥

*निवेदनं तु स्मर्त्तव्यं सर्वथा तादृशैर्जनैः ।
सर्वेश्वरश्च सर्वात्मा निजेच्छातः करिष्यति *॥ १६ ॥

हाँ निवेदन को न भूलें। भगवान् अपनी इच्छा से सब कर लेंगे ॥१६॥

* सर्वेषां प्रभुसम्बन्धो न प्रत्येकमिति स्थितिः ।
अतोऽन्यविनियोगेऽपि चिन्ता का स्वस्य सोपि चेत्*॥१७॥

सबका प्रभुसंबन्ध है एक-एक का नहीं । अतः दूसरा विनि-योग करे तो भी क्या चिन्ता। अपना विनियोग हो तो भी बात नहीं ॥१७॥

*अज्ञानादथ वा ज्ञानात्कृतमात्मनिवेदनम् ।
यैः कृष्णसात्कृतप्राणैस्तेषां का परिदेवना *॥ १८ ॥

प्राणों को कृष्णमय बनाये हुए जिन्होने ज्ञान से या अज्ञान से आत्मनिवेदन कर लिया है उनको फिर क्या व्यथा चिन्ता है ॥१८॥

*तथा निवेदने चिन्ता त्याज्या श्रीपुरुषोत्तमे ।
विनियोगेऽपि सा त्याज्या समर्थो हि हरिः स्वतः*॥१९॥

भगवान को निवेदन करने में भी चिन्ता छोड़ देनी चाहिये और उसके विनियोग में भो चिन्ता छोड़ देनी चाहिये। कारण हरि स्वयं समर्थ है ॥१९॥

लोके स्वास्थ्यं तथा वेदे हरिस्तु न करिष्यति ।
उक्तं चेदं भगवता पृच्छते धर्मसूनवे ॥ २० ॥

हाँ, भगवान लोक तथा वेद में स्वास्थ्यकारी नहीं होंगे यह बात स्वयं भगवान् ने ही युधिष्ठिर को बतायी ॥२०॥

*यस्याहमनुगृह्णामि हरिष्ये तद्धनं शनैः ।
ततोऽधनं त्यजन्त्यस्य स्वजना दुःखदुःखितम्* ॥ २१ ॥

मै जिस पर अनुग्रह करता हूँ, धीरे-धीरे उसका धन हर लेता हूँ। निर्धन को ज्ञातिवाले छोड़ देते हैं ॥२१॥

*स यदा वितथोद्योगो निर्विण्णः स्याद्धनेहया ।
मत्परैः कृतमैत्रस्य करिष्ये मदनुग्रहम् * ॥२२॥

धन के लिए उसका सारा श्रम व्यर्थ हो जाता है तो धन से वैराग्य हो जाता है और भगवद्भक्तों से मैत्री करता है, तब मैं उस पर अनुग्रह करता हूँ ॥२२॥

चित्तोद्वेगं विधायापि हरिर्यद्यत्करिष्यति ।
तथैव तस्य लीलेति मत्वा चिन्तां द्रुतं त्यजेत् ॥२३॥

चित्त में उद्वेग करके भी जो हरि करते हैं सब उनकी लीला समझकर चिन्ता को छोड़ देवें ॥२३॥

निवेदनस्वरूपं च तैस्तत्रैव निरूपितम् ।
*जातकृष्णवियोगेन सहस्रपरिवत्सरान् ॥ २४॥
तापक्लेशौ तथानन्दतिरोभावोऽभवन्मम ।
सोऽहं देहेन्द्रियप्राणान्तःकरणमेव च ॥२५॥

दारागारसुताप्तार्थेहापराणि सहात्मना ।
समर्पयामि दासोऽहं श्रीकृष्णाहं तवेति च* ॥ २६ ॥

निवेदन का स्वरूप भी श्रीवल्लभाचार्य ने इस प्रकार कहा है हजारों लाखों बरसों से श्रीकृष्णवियोग के कारण ताप क्लेश और आनन्द का तिरोभाव हो गया है। सो मैं अपने देह, इन्द्रिय; प्राण, अन्त:करण, दार, गृह, पुत्र, आप्तबन्धु; अर्थ, इह परादि सभी आत्मा के साथ कृष्ण को समर्पण करता हूँ, मैं कृष्ण का दास हूँ। हे भगवन ! मैं आपका हूँ। यह निवेदन का स्वरूप है ॥२४-२६॥

प्रदत्तमिति संकल्पो मतेऽस्मिंस्तु निवेदनम् ।
अज्ञानादथवा ज्ञानादिति तद्वाक्यसंगतेः ॥ २७ ॥

मैंने भगवान को समर्पण किया ऐसा सङ्कल्प वल्लभाचार्य के मत में निवेदन है। अतएव अज्ञान से अथवा ज्ञान से यह वाक्य उनका संगत होता है ॥२७॥

यथाश्रुतोऽपि सूत्रार्थो मतेऽस्मिन्नुपपद्यते ।
तत्संकल्पोत्तरमपि स्वस्वत्वभ्रान्तिसंभवात् ॥२८ ॥

श्री वल्लभाचार्य के मतानुसार यथाश्रुत सूत्रार्थ भी संगत होता है। क्योंकि प्रदानसंकल्प के बाद भी ममत्व की भ्रांति सम्भव है ॥२८॥

* श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम् ।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्* ॥ २९ ॥
इति प्रह्लादगीः कंचिद् भूमिकाभेदसंश्रयम् ।
अपेक्ष्यैव क्रमं वृत्तेत्याहुः प्रायो मनीषिणः ॥ ३० ॥

दास्यादौ लब्धनिष्ठो यः करोत्यात्मनिवेदनम् ।
न तस्य ममताभ्रान्तिर्दारादौ संभवेत् क्वचित् ॥३१॥
तस्मात्स्वत्वभ्रमायोगादर्थेष्वात्मनिवेदिनाम् ।
न चिन्ता युज्यतेऽत्रेति चिन्तयांचक्रिरे परे ॥ ३२ ॥

श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य और आत्मदिवेदन नवधा भक्ति है इस प्रह्लादवचन में भूमिका भेद से कुछ क्रम रखा गया है ऐसे प्राय: विद्वान मानते हैं। तब दास्यादि में निष्ठाप्राप्त पुरुष आत्मनिवेदन करता है तो उसको निवेदित वस्तु में स्व स्वत्व की भ्रान्ति असम्भावित है। अतएव चिन्ता भी अप्रसक्त है ऐसे कुछ लोग इस विषय पर विचार रखते हैं ॥२९–३२॥

वस्तुतोऽत्र परस्वत्वापादनं हि निवेदनम् ।
न तु स्वत्वनिवृत्तिश्च व्यवहारस्य दर्शनात् ॥ ३३ ॥
शनैर्निवर्त्तते स्वत्वं स्वस्यैव विनिवर्त्तनात् ।
तस्मात्प्रसक्ता चिन्तात्र न्यषेधीति सतां मतम् ॥ ३४॥

वस्तुत: भगवत्स्वत्वापादन ही निवेदन है। उसमें स्वत्वनिवृत्ति का प्रवेश नहीं है। क्योंकि मैं मेरा इत्यादि व्यवहार देखने में आता है। अत: स्वत्वावेशपूर्वक चिन्ता का यहाँ निषेध किया है ऐसे सन्तों का मत है ॥३३–३४॥

अथात्रात्मा शरीरादिसंघातश्चेतनोऽथ वा ।
अत्राहुः सूत्रकारस्तदुभयं च विवक्षति ॥ ३५ ॥

अब यह बिचार करें कि निवेदितात्मलोक यहां आत्मा का अर्थ चेतन है या शरीरादि संघात ? उत्तर है कि सूत्र कार को दोनों ही अभिमत हैं ॥३५॥

पृथग् देहेन्द्रियादीनां पृथक् चैव तथात्मनः ।
ग्रहणाद्वल्लभाचार्येश्चिन्मात्रं तन्मते भवेत् ॥३६॥

वल्लभाचार्य ने देहादि को अलग कहा । अतः वहाँ केवल चेतन ही आत्मपदार्थ है ॥३६॥

अत्र देहेन्द्रियादीनां पृथगग्रहणात्पुनः ।
देहाद्यात्मान्तमखिलमात्मशब्दविवक्षितम् ॥३७॥

सूत्र में देहादि का पृथक ग्रहण न होने से देहादि सभी विवक्षित हैं ॥३७॥

नन्वेवं लोकवेदाभ्यां कोऽर्थस्तावद्विवक्षितः ।
कर्मणामात्मशब्देन परिग्रहणसंभवात् ॥ ३८ ॥

तब विचारणीय यह होता है कि लोक और वेद से क्या विवक्षित है । लौकिक कर्म और वैदिक कर्म कहो, तो देहादि के समान कर्म का भी आत्मा शब्द से ही ग्रहण सम्भव है ॥३८॥

अत्राहुर्लोकशब्देन भोग्या दारधनादयः ।
वेदशब्देन चाऽऽस्वर्गान्मोक्षान्ताश्च विवक्षिताः ॥३९॥

इसका समाधान यह देते हैं कि लोकपद का भोग्य दार धनादि लौकिक पदार्थ और वेद पद से स्वर्ग से मोक्षपर्यन्त समस्त वैदिक पदार्थ विवक्षित हैं ॥३९॥

अध्यात्ममधिभूतं चाप्यधिदैवं च वस्तु यत् ।
तदात्मलोकवेदेतिपदोक्तमिति हृद्गतम् ॥ ४० ॥

आत्मपद से आध्यात्मिक लोकपद से आधिभौतिक और वेद पद से आधिदैविक वस्तु विवक्षित है यह हृद्गतार्थ है ॥४०॥

लोकवेदभवं कर्म तच्छब्दोक्तं परे विदुः ।
निवेदनं तदीयं च सर्वकर्मसमर्पणम् ॥ ४१ ॥

आत्मतात्मीयताभ्यां च यद्यद्वस्तु प्रमीयते ।
तत्सर्वमात्मशब्देन प्रकृते विनिवेद्यते ॥ ४२ ॥

सर्ववस्त्वर्पणं चैव सर्वकर्मार्पणं तथा ।
कुर्वता नैव कर्त्तव्या चिन्तेत्यर्थोऽत्र गम्यते ॥४३॥

दूसरे लोग इस प्रकार व्याख्या करते हैं कि लौकिक तथ वैदिक कर्म ही लोक और वेद का अर्थ है। उनका निवेदन अर्था सर्वकर्मार्पण। आत्मा पद का आत्मा और आत्मीय के रूप प्रतीयमान सभी वस्तु अर्थ है। फलतः सर्ववस्तु का अर्पण औ सर्वकर्मों का समर्पण यहां विवक्षित है। ऐसा समर्पण कर हुये चिन्ता का परित्याग करें, यह सूत्रार्थ है ॥४१–४३॥

अथात्र लोकहान्यन्तर्गतो लोकस्तु को मतः ।
तस्य का नाम हानिश्च नारदेन विवक्षिता ॥ ४४ ॥

अत्र केचित्समाचख्युरैहिकः पर एव च ।
लाको लोकपदेनोक्तस्तद्धानिर्दुःखसंगतिः ॥ ४५ ॥

अब यह विचार करें कि लोकहानि शब्द के अन्तर्गत लो का अर्थ क्या है और उसकी हानि क्या है ? यहां कुछ लोग स धान देते हैं कि इह लोक तथा परलोक लोकपदार्थ है उस हानि अर्थात् उभयत्र दुःख को प्राप्ति ॥४४-४५॥

ननु दारधनादीनां हानिरैहिकदुःखकृत् ।
नरकश्च परत्र स्याद् भक्तानां घटते न तत् ॥ ४६ ॥

*स्वर्गापवर्गयोः पुंसां रसायां भुवि सम्पदाम् ।
सर्वासामपि सिद्धीनां मूलं तच्चरणार्चनम् *॥ ४७ ॥

अकामः सर्वकामो वे त्यादिवाक्यशतैः खलु ।
भगवत्पदभक्तानां लोकहान्यप्रसक्तितः ॥ ४८ ॥

अत्राहुर्भगवद्वाक्यं हरिष्ये तद्धनं शनैः ।
तथा च धननाशादिः लोके किं न प्रसज्यते ॥ ४९ ॥

तथा नित्याद्यकरणे नरकः शास्त्रदर्शितः ।
परलोकप्रणाशश्च कस्मान्नातः प्रसज्यते ॥ ५० ॥

न चोक्त सर्वकामो वेत्यादि वाक्यविरोधिता ।
भक्तस्य कामशून्यत्वात्फलप्राप्तेरयोगतः ॥ ५१ ॥

किं च प्रारम्भकाले हि सर्वसम्पन्न सिद्ध्यति ।
प्रत्यक्षेण विरुद्धं तत् कथं शास्त्रेण बोध्यताम् ॥ ५२ ॥

न चैहिकस्य लोकस्य हानिरेवं प्रसज्यताम् ।
नरकादेस्तु संप्राप्तिरसंभाव्येति सांप्रतम् ॥ ५३ ॥

चित्रकेतोर्यथा प्राप्ता दुर्गतिर्योनिरासुरी ।
एवं संभाव्यतेऽन्येषां शापादेरन्यथापि वा ॥ ५४ ॥

पूर्व पक्ष यह उठता है कि भक्त को ऐहिक तथा पारलौकिक लोक की हानि की प्रसक्ति कैसे? धनदारादि नाश इहलोक हानि है और नरक प्राप्ति परलोक हानि है। शास्त्र कहता है कि ऐहिक पारत्रिक सर्वसंपदा का मूल भगवदर्चन है। अकामः सर्वकाम इत्यादि श्लोक में तो भक्ति को सर्वकामनापूरक बतलाया है। इसका समाधान यह है कि भगवान ने स्वयं बताया है कि भक्त के धनादि को मैं धीरे-धीरे हर लेता हूँ इत्यादि। कामना रहित भक्त के लिए 'सर्वकामो वा' इत्यादि वाक्य लागू ही नहीं होता। और भक्ति प्रारम्भ करते ही सारी सम्पत्ति आने लगती हो यह प्रत्यक्ष विरुद्ध है, शास्त्र उसे कैसे कह सकता है। हां, परलोक की हानि किस प्रकार? यह शङ्का हो सकती है इसका भी समाधान यह है कि भक्तवर चित्रकेतु को आसुर योनि प्राप्त हो गयी थी। वे वृत्रासुर बने। तात्पर्य यह कि शापादि से या अन्य प्रकारान्तर से परलोक की हानि की प्रसक्ति है ॥४६-५४॥

परे तु लोकशब्देन लोकत्रयमुदीर्यते।
ऐहिकामुष्मिकौ लोकावात्मलोकस्तथापरः ॥ ५५॥

ऐहिको दारपुत्रात्मदेहादिः समुदीरितः।
स्वर्गादिमोक्षपर्यन्त आमुष्मिक उदाहृतः ॥ ५६ ॥

कैवल्यलक्षणो मोक्ष आत्मलोक उदीर्यते।
हेतौ त्रयाणां ग्रहणात्साध्येऽप्युचितमेव तत् ॥ ५७ ॥

न च लोकपदस्यार्थो यदि लोकत्रयं मतम्।
तदा हेतौ पृथक्कस्माद् ग्रहणं ह्यात्मवेदयोः ॥ ५८ ॥

इति वाच्यं यतो हेतौ विवृत्य परिदर्शितः ।
लोकशब्दार्थ एवेति साध्योक्तौ लाघवं कृतम् ॥५६॥

अन्य मनीषियों का कहना है कि लोक पद का इह लोक परलोक तथा आत्मलोक तीनों अर्थ है। धनदारादि इह लोक है। स्वर्गादि परलोक हैं। मोक्ष आत्मलोक है। इन तीनों का ग्रहण करना इसलिए उचित है कि 'निवेदितात्मलोकवेदत्वात्' इस हेतु में तीनों का ग्रहण है। यह शङ्का करें कि लोक पद का उक्त तीन लोक अर्थ हो सकता है तो हेतु में भी केवल लोक पद ही क्यों नहीं रखा ? तो समाधान यह है कि हेतुवाक्य में विवरण रूप से तीनों को बताया। नहीं तो यह पता ही कैसे लगे कि तीन यहां विवक्षित हैं। हां साध्य कथन में केवल लोकपद का ग्रहण लाघवार्थ है ॥५५–५६॥

इत्थं पदत्रयस्यार्थो यादृशो यैः प्रदर्शितः ।
साध्ये लोकपदस्यार्थस्तावांस्तैरुपगम्यते ॥ ६० ॥

हेतुगत तीन पदों का मतभेद से जैसा जैसा अर्थ किया, वैसा ही अर्थ साध्यगत लोकपद का समझना चाहिये ॥६०॥

वस्तुतोऽनन्तरं लोक-व्यवहारः प्रवक्ष्यते ।
व्यावहारिकलोकोऽतो लोकशब्दविवाक्षितः ॥ ६१ ॥

वस्तुतः अगले सूत्र में लोक व्यवहार का प्रयोग है अतः यहां व्यावहारिक लोक ही अर्थ है ॥६१॥

सामाजिक्यः कतिचन मर्यादारीतयः स्थिताः ।
यासां सम्यगनुष्ठानाज्ज्ञातयः कुर्युरादरम् ॥ ६२ ॥

यासां विरहतो लोकनिन्दापात्रं भवेन्नरः ।
तादृग्लोकतिरस्कारो लोकहानिरितीर्यते ॥ ६३ ॥

सामाजिक कतिपय रीति रिवाज मर्यादा होती है। उनके पालन से ज्ञाति वाले आदर करते हैं। अन्यथा तिरस्कार करते हैं। ऐसा लोकतिरस्कार ही यहाँ लोक हानि है ॥६२-६३॥

निनिन्द बहुधा लोको मीरादी राजकन्यकाः ।
तामनादृत्य ता नित्यं भेजुर्हरिमनाकुलाः ॥ ६४ ॥

मीरा आदि की लोगों ने प्रथम बड़ी निन्दा की। पर उसकी परवाह न कर उन्होंने हरि का भजन किया ॥६४॥

क्लेशो लोकतिरस्काराच्छारीरादिश्च संभवेत् ।
सोऽपि लक्षणया लोकहानीत्यत्र विवक्ष्यताम् ॥६५॥

लोग तिरस्कार करने लगते हैं तो शारीरिक क्लेश होना भी अनिवार्य है। अतः लक्षणया शारीरक्लेश भी लोकहानि शब्दार्थ है ॥६५॥

ननु तर्हि वृथा हेतावात्मवेदरणेति चेत् ।
न किंचित्करता लोकहानेरित्याशयान्मुनेः ॥ ६६ ॥

यदि लोक हानि का व्यावहारिक लोक हानि अर्थ हो तब हेतु में आत्मा और वेद का ग्रहण व्यर्थ होगा। इस शंका का समाधान यह है कि लोकहानि अकिंचित्कर है। यह सिद्ध करने के लिए उन दोनों का भी हेतु में ग्रहण है ॥६६॥

तथा हि लोकहानौ किं भक्तराज हृतं तव ।
स्वक्लेशो लोकनिन्दादिः परलोकहतिर्हि वा ॥६७॥

न च त्रयमपीदं स्यात्सर्वेषां विनिवेदनात् ।
तथा च लोकहानौ का चिन्ता ब्रूहीति हन्मुनेः ॥६८॥

नारदजी कह रहे हैं कि हे भक्तराज! लोकहानि से आपका क्या बिगड़ता है? क्या स्वयं को क्लेश होता है या लोकतिरस्कारादि या परलोकनाश। तीनों ही संभव नहीं हैं। कारण आपने अपने को और लोकवेद को भगवदर्थ समर्पित कर लिया है। तब आपको लोक हानि से क्या चिन्ता? यह सूत्र का आशय है ॥ ६७-६८॥

ननु चिन्ता न कर्त्तव्येत्येतावन्मात्रमुच्यताम् ।
लोकहानाविति कुतो निमित्तं तत्र योजितम् ॥६९॥

निवेदितात्मभिश्चिन्ता कार्या क्वापि कदापि न ।
इत्येवं वल्लभाचार्या अपि सामान्यतोऽब्रुवन् ॥७०॥

*चिन्तां कुर्यान्न रक्षायै विक्रीतस्य यथा पशोः ।
तथार्पयन् हरेर्देहं विरमेदस्य रक्षणात्* ॥७१॥

इति देहादिचिन्ताया अपि त्याज्यत्वमीरितम् ।
यथाश्रुता लोकहानिर्नेचात्र घटते खलु ॥७२॥

यहाँ पूर्वपक्ष यह होता है कि चिन्ता नही करें इतना ही कहना चहिये था, लोकहानि की चिन्ता न करें इतना क्यों कह रहे हैं। श्रीमद्वल्लभाचार्य ने भी यही कहा है कि कहीं भी, कभी भी चिन्ता न करों। शास्त्रों में कहा है कि बेची हुई गाय के समान शरीर के लिए चिन्ता न करो। क्योंकि इसको भगवदर्थ अर्पित किया है। शरीर हानि तो यथाश्रुत लोकहानि न होने से उक्त शास्त्र वचन के साथ भी सूत्र का मेल नहीं खायेगा ॥६९-७२॥

अत्रोच्यते सदा चिन्ता भक्तानां हृदि वर्त्तते ।
मा भून्मय्यप्रसन्नः स क्लेशस्तस्य हि मा स्म भूत् ।
मा स्म भूदपराधो म इति चिन्ता च सर्वदा ।
भक्तानामस्त्यतश्चिन्तासामान्यं न निषिध्यते ॥७४॥

उक्त पूर्वपक्ष का समाधन यह है कि भगवान कहीं अप्रसन्न न हो, उनको कोई क्लेश न हो, मेरा कोई अपराध न हो जाय। ऐसी चिन्ता भक्तों के हृदय में अहर्निश रहती है। अतः चिन्तासमान्य का निषेध नहीं किया जाता ॥७३–७४॥

*इति विप्रियमाकर्ण्य गोप्यो गोविन्दभाषितम् ।
विषण्णा भग्नसंकल्पाश्चिन्तामापुर्दुरत्ययाम् ॥७५॥*

गोपीनामत्र चिन्ताभूदप्रसन्नत्वशङ्कया ।
तन्नः प्रसीदेति यतस्ताभिरग्रे निवेदितम् ॥७६॥

रासाध्याय में कहा है कि भगवान का अप्रिय भाषण सुनकर गोपिकायें चिन्तामग्न हो गयीं। गोपिकाओं ने समझा कि भगवान हम पर अप्रसन्न हैं। अतएव आगे हम पर प्रसन्न हों, ऐसा वे कहती हैं ॥७५–७६॥

*नन्दः पथि वचः शौरेर्न मृषेति विचिन्तयन् ।
हरिं जगाम शरणमुत्पातागमशङ्कितः* ॥७७॥

लीलार्थमावृतज्ञानो नन्दश्चिन्तामुपागतः ।
तत्क्लेशभयतस्तेन भक्त्यङ्गं सेति गम्यते ॥७८॥

नन्दराय मथुरा से लौटते समय वसुदेवजी का वचन मिथ्या नहीं हो सकता, ऐसा सोचकर उत्पात भय से चिन्तातुर हुए।

नन्दराय अज्ञानी नहीं थे। किन्तु लीलार्थ आवृत्तज्ञान थे। उनकी चिन्ता इस बात की सूचक है कि चिन्ता भी भक्ति का ही अङ्ग है ॥७७-७८॥

मुख्यतो लोकनिन्दादिचिन्ता भक्तिविघातकृत् ।
अतस्तस्या विशेषेण निषेधो मुनिना कृतः ॥ ७९ ॥

मुख्यरूप से लोकापवादादि की चिन्ता ही भक्ति का विघात करनेवाली है, अतः विशेष रूप से नारदजी ने उस का निषेध किया ॥७९॥

शृण्वन् हरिकथा गायन् द्रुतचित्तोऽनुरागतः ।
हसेदुन्मत्तवन्नृत्येल्लोकबाह्यो गतत्रपः ॥ ८० ॥
चिन्ताशून्यो लोकहानौ लोकबाह्यो भवत्यसौ ।
तथा चात्रोदितं सर्वं कार्यमित्यपि सूच्यते ॥ ८१ ॥

लोकहानौ भविष्यन्त्यां चिन्ता कार्या न धीमता ।
लोकहानौ च जातायां चिन्ता कार्या न धीमता ॥८२॥

'शृण्वन् सुभद्राणि" "एवं व्रतः" इत्यादि योगीश्वर वचन में बताई रीति से नृत्यगानादि करते हैं लोकहानि में चिन्ता न होने से ही लोकबाह्य होता है। अतएव उक्त श्लोकोक्त नृत्यगानादि की कर्तव्यता भी यहां सूत्र से सूचित होती है ॥८०-८१॥

आगे होने वाली लोकहानि की भी चिन्ता न करें और जो लोकहानि हुई उसकी भी चिन्ता न करें ॥८२॥

ॐ

—o—

ॐ

लोकहानौ न चेच्चिन्ता कर्त्तव्यात्मनिवेदिभिः ।
त्यज्यन्तां सकला लोकव्यवहारास्तदेति चेत् ॥ १ ॥

यदि लोकहानि में चिन्ता न हो तो सभी लोक व्यवहार ही क्यों न छोड़ा जाय ॥१॥

न तदासिद्धौ लोकव्यवहारो हेयः किन्तु फलत्यागस्तत्साधनं च कार्यमेव ॥६२॥

चिन्ता न हो तो भी लोक व्यवहार नहीं छोड़ना चाहिये किंतु फलत्याग और भक्तिसाधन कर्म करना ही चाहिये ।।६२।।

मैवं लोकव्यवहृतिर्न हेया भक्तितत्परैः ।
असिद्धावपि चिन्ताया अभावेऽपीति हृद्गतम् ॥ २ ॥

अस्पृष्टचिन्तासन्ताना अपि कुर्याद्यथायथम् ।
लोकव्यवहृतिं तस्यास्त्यागस्य विफलत्वतः ॥३॥

अन्यथा तु भविष्यन्ति लोका विक्षेपकारणम् ।
मा स्म भूच्चित्तविक्षेपश्छिन्नं तत्करणे हि किम् ॥ ४ ॥

उक्त पूर्वपक्ष का समाधान यह है कि चिन्ता न होने पर भी लोकव्यवहार करते रहना चाहिये । नहीं तो लोग व्यर्थ में चित्तविक्षेपकारण बनेंगे और लोकव्यवहार किया तो अपना बिगड़ता ही क्या ? ॥२-४॥

लोके मर्यादितः शिष्टैर्व्यवहारो जनादृतः।
प्रवर्तमानो यो लोकव्यवहारः स उच्यते ॥ ५ ॥

क्वचिद् दृष्टफलः स स्याददृष्टफलकः क्वचित्।
आस्तिक्यलज्जादाक्षिण्यप्रभृतिर्विविधो हि सः ॥ ६ ॥

लोक में शिष्टों ने जिसको मर्यादित किया है, जनता ने जिसका आदर किया है और लोगों में जिसका पूर्णतया प्रचलन है ऐसा व्यवहार लोकव्यवहार कहलाता है। कुछ तो दृष्टफलक होता है। जैसे लज्जा, दक्षता आदि। और कुछ अदृष्टफल वाला होता है जैसे आस्तिकता नित्यकर्मादि ॥५–६॥

लोकहानिः कथं लोकव्यवहारं प्रकुर्वतः।
ततो निर्विषयं सूत्रं पूर्वोक्तमिति चेन्न तत् ॥ ७ ॥
श्रीरामोऽपि यतः प्राह दुष्करं लोकतोषणम्।
जानक्या ग्रहणे लोकैस्त्यागे चापि विनिन्दितः ॥८॥
लोकप्रसादनायैव प्रवृत्तः पतितो भवेत्।
तस्मात्किं कार्यमित्याह किंत्वित्यादि महामुनिः ॥९॥

यदि लोक व्यवहार करते रहेंगे तो लोकहानि कैसे? तब पूर्व सूत्र निर्विषय होगा। इसका समाधान यह है कि लोकव्यवहार करते रहने पर भी लोक (दुनिया) को खुश करना मुश्किल है। सीता को ग्रहण किया तो भी लोगों ने राम की निन्दा की और त्यागा तो भी निन्दा की। इस लिए लोकों को प्रसन्न करना ही लक्ष्य बनाया तो मनुष्य गिर जायेगा। अतः कर्त्तव्य बता रहे हैं—किन्तु इत्यादि ॥६–९॥

कर्त्तव्यतां समाश्रित्य व्यवहारो विधीयताम्
किन्तु तत्र फलत्यागो यत्करोषीति वाक्यतः ॥ १० ॥
अत्यागे लोकतुष्टिश्च लोकहानिरतद्विधे ।
यदि स्याल्लोकहानौ न चिन्ता कार्येति निश्चयः ॥ ११ ॥

कर्त्तव्य समझकर व्यवहार करते जाय किन्तु फलत्याग अवश्य करें। उसमें फलत्याग न करने पर लोग खुश होंगे, फलत्याग करने पर लोग नाखुश होंगे, ऐसी स्थिति पैदा हो रही हो तो लोकहानि की चिन्ता (परवाह) न करें, यही सिद्धान्त है ॥१०-११॥

*कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि ॥ १२ ॥
योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनंजय ।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ॥१३॥
दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनञ्जय ।
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः* ॥ १४ ॥
इत्यादिवचनव्रातैः फलत्यागप्रदर्शनात् ।
विवादो लेशमात्रोऽपि फलत्यागे न विद्यते ॥१५॥

कर्मण्येवाधिकारस्ते इत्यादि से फलत्याग में विवाद हो नहीं सकता ॥१२-१५॥

किं च भक्तेः सदा कार्यं साधनं भक्तिवर्धनम् ।
श्रवणं कीर्त्तनं ध्यानमित्याद्यं साधनं मतम् ॥१६॥
व्यवहाराद्बलीयश्च साधनं श्रवणादिकम् ।
तस्मिन् प्राप्ते परित्याज्या लोकव्यवहृतिर्बुधैः ॥१७॥

एवकारोऽत एवात्र कार्यमेवेति योजितः ।
साधनानां बलीयस्त्वं दिदर्शयिषुणर्षिणा ॥ १८ ॥
तत्र प्रसज्यते क्वापि लोकहानिर्न संशयः ।
न तत्र चिन्ता कार्येति पूर्वसूत्रं समञ्जसम् ॥१९॥

दूसरी बात यह; भक्तिवर्धन श्रवणादि साधन व्यवहार से बलवान् है। अतएव कार्यमेव ऐसा एवकार का प्रयोग किया। तब भक्ति साधन करते समय व्यवहार छूट जायगा तो लोकहानि की प्रसक्ति है। उसमें चिन्ता न करो, इस प्रकार पूर्वसूत्र की सङ्गति है ॥१६-१६॥

कार्य इत्येव न प्रोक्तो व्यवहारो महर्षिणा ।
निषेधमुखतः किन्तु न हेय इति दर्शितः ॥ २० ॥
अयमर्थः वृथा नैव व्यवहारो विहीयताम् ।
मुधा प्रसज्यते लोकहानिर्यदविवेकिनः ॥ २१ ॥
विवेकी तु फलं त्यक्त्वा संपादयति साधनम् ।
लौकिकव्यवहारं च भक्तिं प्रति महामतिः ॥ २२ ॥

'व्यवहारः कार्य' ऐसा न कह कर 'व्यवहारो न हेयः' ऐसा निषेध मुख से कहा। इसका तात्पर्य यही कि व्यर्थ में व्यवहार नहीं छोड़ना चाहिये, जिससे लोकहानि भी हो। यह तो अविवेकिता है। बल्कि विवेकी तो लोकव्यवहार को भी फलत्याग कर भक्ति का साधन बना देते हैं ॥२०-२ ॥

ननु निश्चयतः पश्चादस्तु वा शास्त्ररक्षणम् ।
लोकेऽपि तावदेवेति पूर्वमुक्तं महर्षिणा ॥ २३ ॥

किमर्थमधुना लोकव्यवहाराविहेयताम् ।
पुनः प्राहेति चेन्मैवं विशेषविषयत्वतः ॥ २४ ॥

पातित्यशङ्कारूपायाश्चिन्ताया विरहेऽपि च ।
न हेया विबुधैर्लोकव्यवहारादयः खलु ॥ २५ ॥

पूर्ण पक्ष :—'निश्चयादूर्ध्वं शास्त्ररक्षणं भवतु' इत्यादि पहले कहा है। वहां लोकव्यवहार भी करने के लिए कहा है। उसी बात को फिर से यहाँ क्यों कहने लगे ? इसका समाधान यह है कि वहाँ पातित्यशंका से लोकरक्षण करने के लिये बताया और यहां व्यर्थ में लोक व्यव हार त्यागने का निषेध कहा है अतः विषय भेद है ॥२३-२५॥

यद्वा निवेदितात्मत्वासिद्धौ तददृढस्थितौ ।
नैव हेयो भवेल्लोकव्यवहार इतीर्यते ॥ २६ ॥

अथवा तदसिद्धौ इस सौत्रपद का अर्थ है निवेदितात्मलोक वेदत्वासिद्धौ, अर्थात् आत्मलोकवेदनिवेदन जिसका दृढ़ नहीं हुआ है वह लोक व्यवहार न छोड़ें, यह सूत्रार्थ है ॥२६॥

नन्वेवं प्राक्समाख्यातनिरोधेन विरोधिता ।
निरोधो लोकवेदोक्तव्यापारन्यास ईरितः ॥ २७ ॥

न च सिद्धस्य स प्रोक्तः साधनत्वेन वर्णनात् ।
तत्रैव निश्चयादूर्ध्वं शास्त्ररक्षणकीर्त्तनात् ॥ २८ ॥

मैवं व्यापारसंन्यासं पुरा तु समदर्शयत् ।
व्यवहारापरित्यागमिह चाह महामुनिः ॥ २९ ॥

यदद्दष्टफलं कर्म तत्स्याद् व्यापारशब्दितम् ।
यत्तु दृष्टफलं कर्म व्यवहारपदं च तत् ॥ ३० ॥

यदि आत्मनिवेदनसिद्धि से पूर्व व्यवहार का त्याग नहीं कर सकते हैं तो "निरोधस्तु लोकवेदव्यापारन्यासः" यह साधन कथन असंगत होगा। इसका उत्तर यह है कि अदृष्टफल वाले कर्म को व्यापार कहते हैं। उसका न्यास पहले बताया है। और व्यवहार दृष्टफल वाले कर्म को कहते हैं उसके त्याग का यहाँ निषेध है ॥२७-३०॥

केचिन्निश्चिन्तताऽसिद्धौ न हि व्यवहृतिं त्यजेत् ।
नैश्चिन्त्यस्य पुरोक्तत्वादित्याहुश्चिन्त्यमेव तत् ॥३१॥
लोकहानौ भवेद्यस्य चिन्ता नाम पिशाचिनी ।
स लोकव्यवहारं तु कथंकारं त्यजेन्नरः ॥ ३२ ॥
लोकव्यवहृतेस्त्यागोऽप्राप्तश्चिन्तावतां ततः ।
अप्राप्तस्य निषेधोऽयं किमर्थं प्रविधीयते ॥ ३३ ॥

कुछ लोग सूत्रार्थ ऐसा करते हैं कि तदसिद्धौ अर्थात् लोक-हानि में निश्चिन्तता यदि सिद्ध न हो तो लोकव्यवहार न छोड़ो। यह अर्थ अनुपादेय सा है। कारण, लोकहानि की चिन्तापिशा-चिनी जिसके मन में है वह लोक व्यवहार छोड़ेगा ही क्यों, उसका निषेध करना अप्राप्त निषेध होगा ॥३१-३३॥

ननु प्राग् लोकवेदोक्तव्यापारन्यासलक्षणः ।
निरोधः कथितस्तेन प्राप्तस्त्यागो निषिध्यते ॥३४॥
प्रसङ्गादनुसन्धानं व्यवधानेऽपि कल्पते ।
सिद्धनिश्चिन्तताको हि न्यस्येदिति नियम्यते ॥३५॥

मैवं यस्य मते न्यासः सर्वकर्मसमर्पणम् ।
स कथं कर्मणां त्यागं लभ्यं न्यासोक्तितो वदेत् ॥३६॥

यद्यपि पहले लोकवेदव्यापारन्यास बताया है । अतः व्यवहितानुसन्धान कर अनिश्चिन्तता में उसका निषेध कहा जा सकता है । परन्तु जिन्होंने न्यास का अर्थ कर्मसमर्पण किया है वे कैसे कह सकते हैं कि कर्मत्याग प्राप्त है ॥३४-३६॥

सिद्धान्ते फलरूपोऽयं न्यासो लक्षणकीर्त्तनात् ।
चिन्तावन्धोरभक्तस्य स कथं हि प्रसज्यते ॥ ३७ ॥

यद्यपि सिद्धान्त में न्यास का अर्थ त्याग नहीं है परन्तु भक्ति लक्षण होने से वह फलरूप है । चिन्ता लिए हुए, अत एव सम्यग भक्तिहीन पुरुष को उस त्याग की प्रसक्ति कहां है ? ॥३७॥

न च वाच्यं साधकानां साधनं सिद्धलक्षणम् ।
यतोऽकामयमानत्वपूर्वन्यासो हि लक्षणम् ॥ ३८ ॥

यदि कहें कि सिद्ध का लक्षण साधकों का साधन है, अतः न्यास प्राप्त है, तो भी ठीक नहीं, कारण, "सा न कामयमाना निरोधरूपत्वात्" इस सूत्र से कामनाविरहकालीन कर्मसंन्यास ही लक्षण और साधनरूप से प्राप्त है। लोकहानि में चिन्तावाला कामनारहित नहीं हो सकता ॥३८॥

अन्यतः प्राप्तसंन्यासे चिन्तनं नात्र संगतम् ।
चिन्तात्यागयुतन्यासो भक्तिशास्त्रेषु कीर्तितः ॥३९॥

लोकसे प्राप्त या तात्पर्यरहित भक्तिशास्त्रीय वचन विशेष से प्राप्त विषय पर यहां विचार होता है, न कि अन्यतः प्राप्त विषय पर । क्योंकि यह परनिराकरणार्थ प्रवृत्त ग्रंथ नहीं है ॥३९॥

भक्तिशास्त्रेषु तु स्पष्टं मोक्षयिष्यामि मा शुचः ।
इति चिन्तानिरंहितः परित्यागोऽभिधीयते ॥ ४० ॥

भक्ति शास्त्रों में तो चिन्तात्त्याग पूर्वक कर्मत्याग का ही वर्णन आता है। जैसे, सर्वधर्मान् परित्यज्य-मोक्षयिष्यामि मा शुचः ।(यहाँ शोक का अर्थ चिन्ता ही है। क्योंकि अर्जुन को भीष्मादि मृत्यु की चिन्ता हो हो रही थो)॥४०॥

भक्त्यसिद्धौ न संत्याज्या लोकव्यवहृतिर्नृभिः ।
इति व्याख्यापि केषांचिच्चिन्तया स्यादुक्तयुक्तिभिः ॥४१॥

"तदसिद्धौ" का भक्ति सिद्ध न होने पर ऐसा अर्थ भी पूर्णतया संगत नहीं है ॥४१॥

भक्त्यर्थं कर्मसंन्यासो बहुधा क्रियते बुधैः ।
उक्तं च वल्लभाचार्यैस्तद्धि संन्यासनिर्णये ॥ ४२ ॥

भक्ति के लिए बहुत से मनीषी कर्मसंन्यास करते हैं और यह बात संन्यास निर्णय में श्री वल्लभाचार्य ने भी कहा है। (भक्ति सिद्ध हो तो संन्यास करने की आवश्यकता ही क्या।) ॥४२॥

लोकहानौ न चेच्चिन्ता व्यवहारोऽपि सुत्यजः ।
सत्यां हठेन चिन्तायां न त्याज्यः स इतीतरे ॥ ४३ ॥

लोकहानि में चिन्ता न हो तो व्यवहार भी छोड़ सकते हैं। हाँ, यदि चिन्ता हो तो हठ से व्यवहार त्यागना नहीं चाहिये, ऐसा आशय दूसरे मनीषी बताते हैं ॥४३॥

व्यवहाराद्धेयताक्त्या लोकरक्षणमुच्यते ।
फलत्यागगिरा चात्र शास्त्ररक्षणमीर्यते ॥ ४४ ॥

तत्साधनं च कर्तव्यमित्यनेन महर्षिणा।
लोकशास्त्रातिरिक्तं च भक्तिसाधनमुच्यते ॥ ४५ ॥

यहां सूत्र में व्यवहार की अहेयता कहकर लोकरक्षण बताया फलत्याग कह कर शास्त्ररक्षण सूचित किया और तत्साधन कार्यं से लोकशास्त्रातिरिक्त भक्तिसाधन बताया ॥४४-४५॥

ॐ

—o—

ॐ

सरलं साधनं भक्तौ सौलभ्योक्तयनुसूचितम् ।
उपाक्रामल्लोकहानेरचिन्त्यत्वादिना मुनिः ॥ १ ॥
मध्ये प्रसङ्गतः किंचिदुक्त्वा पुनरिहाधुना।
उपक्रान्तं हि वदति कर्त्तव्यं साधनं परम् ॥२॥

सौलभ्यकथन से सूचित भक्ति का सरल साधन उपक्रान्त हुआ था। बीच में प्रसङ्गतः लोकव्यवहार की अत्याज्यता आदि विषय आ गया। किन्तु फिर से अब उपक्रान्त सरल साधन का ही निरूपण करते हैं, स्त्रीधन इत्यादि सूत्र से ॥१-२॥

परे त्वहेयश्चेल्लोकव्यवहारस्तदा नरैः।
कर्तितव्यं कथं तत्रेत्यधुनाहेत्यवर्णयन् ॥ ३ ॥

दूसरे विद्वान् उत्तर सूत्र को अवतरणिका इस प्रकार देते हैं कि यदि लोकव्यवहार अत्याज्य हो—लोक में ही रहना हो तो किस ढङ्ग से रहना चाहिये, यह अब कहते हैं (स्त्री धन इत्यादि) ॥३॥

स्त्रीधननास्तिकवैरिचरित्रं न श्रवणीयम् ॥६३॥

स्त्री, धन, एवं नास्तिक वैरी का समाचार नहीं सुनना चाहिये ॥६३॥

उदाराः सर्व एवैते भक्ता आर्त्तादयः खलु ।
उदारचरितानां च वसुधैव कुटुम्बकम् ॥ ४ ॥
जयदेवादिषु स्पष्टं चौरादावप्यवैरिता ।
नास्तिकश्चेदसौ वैरी भक्तानां नान्यथा रिपुः ॥५ ॥
मुख्यं नास्तिकपक्षेवातस्तस्माद्वैरिपदं विना ।
पठन्ति केचिद्विद्वांसः सूत्रमेतन्महामुनेः ॥ ६ ॥
यद्वा वैरं मानुषान्तसुभक्ताः केनापि देहिना ।
अनुबध्नन्ति मूढास्तु भक्तैस्तत्तेऽत्र वैरिणः ॥ ७ ॥
यदि वा साधकानां स्युर्वैरिणो हीति चिन्त्यते ।
तदा तदानुकूल्येन व्याख्यास्यामो यथाक्रमम् ॥ ८ ॥

आर्त्तादि सभी भक्त उदार हैं, यह भगवदुक्ति है और उदारों के लिए पूरी वसुधा कुटुम्ब है। जयदेवादि की जीवनी में यह स्पष्ट है, चोरों से भी उन्होंने वैर नहीं किया। अतः यहाँ सूत्र में

नास्तिकवैरी ऐसा एक पद है। नास्तिक है इसलिए वैरी है। अत एव कई विद्वान यहां वैरी पद के बिना ही सूत्र पढते हैं। अथवा भक्त किसी के साथ वैर न रखे, किन्तु मूढ लोग भक्तों के साथ वैर करते हैं, वे ही यहाँ वैरी का अर्थ है ॥ यदि यह मानें कि सिद्ध भक्तों के वैरी न हो तो भी साधक भक्तों के वैरी होते हैं और यहां साधकों का ही वर्णन है, तो तदनुसार ही हम आगे यथाक्रम व्याख्या कर लेंगे ॥४-८॥

*त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः ।
कामः क्रोधस्तथालाभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्* ॥ ९॥

इत्येवं भगवत्प्रोक्तां कामादेस्त्याज्यतां मुनिः ।
निदर्शनं पुरस्कृत्य स्त्रीधनेत्यादिनाऽब्रवीत् ॥ १० ॥

गीता प्रोक्त काम क्रोध लोभ की त्याज्यता यहां सदृष्टान्त बताया गया है ॥१०॥

न तु सामान्यतः स्त्र्यादेः श्रवणस्य निषेध्यता ।
विबुधैर्बहुधा तस्य श्रवणाच्छ्रावणादपि ॥ ११ ॥

सीतानसूयागोप्यादेर्वैकुण्ठविभवस्य च ।
रावणादेश्च चरितं श्रूयते श्राव्यतेऽपि च ॥ १२ ॥

सर्वथा स्त्री आदि का श्रवणनिषेध नहीं हो सकता, सीता अनुसूया गोपियां, वैकुण्ठ का वैभव और रामचरित में रावण का भी चरित सुना और सुनाया जाता है ॥९-१२॥

ननु कामादयस्त्याज्या इत्येव न कुतोऽब्रवीत् ।
उच्यते भगवत्येव ते कार्या इति वक्ष्यते ॥ १३ ॥

स्त्रीधनेत्यादिकथने शब्दाभिव्यञ्जनाबलात् ।
स्त्र्यादिगोचरकामादेर्निषेध्यत्वं प्रतीयते ॥ १४ ॥

सीधे ही काम-क्रोध लोभ छोड़ो ऐसा इस लिए नहीं कहा कि आगे बतायेंगे कि भगवान में कामादि करे। स्त्रीधन इत्यादि कहने से व्यञ्जना बल से ही स्त्री आदि विषयक कामादि की त्याज्यता प्रतीत होती है ॥१३–१४॥

ननु श्रवणमात्रं हि कस्मादत्र निषिध्यते ।
स्त्र्यादीनां विनिषेद्धव्यं दर्शनस्पर्शनाद्यपि ॥१५॥

न च दर्शनसामान्ये स्त्र्यादीनां नास्ति दूषणम् ।
रसपूर्वं हि तच्छास्त्रे निषिद्धमिति सांप्रतम् ॥ १६ ॥

श्रवणेऽपि समानत्वात्कथं तच्च निषिध्यते ।
रसपूर्वं लक्ष्यते चेल्लक्ष्यतां दर्शनाद्यपि ॥ १७ ॥

रसेन न हिरण्यादि स्प्रष्टव्यमिति हि श्रुतिः ।
निषेद्धव्यं ततः सर्वं दर्शनाद्यपि चेति चेत् ॥ १८ ॥

अत्राहुरितराणि स्युः स्वायत्तानीन्द्रियाण्यतः ।
अनावृतमिदं श्रोत्रं विशेषेणाग्रहीन्मुनिः ॥ १९ ॥

श्रवण मात्र का क्यों निषेध किया ? दर्शन स्पर्शनादि का भी निषेध करना चाहिये था। रस पूर्वक दर्शन स्पर्शनादि सब का निषेध उपनिषद में किया है। इस का उत्तर यह कि दर्शन स्पर्शनादि अपनी इच्छा पर निर्भर है। किन्तु श्रवण तो कोई दूसरा बोलने लग जाय तो भी करना पड़ता है। अतः विशेष रूप से श्रवण का निषेध किया है ॥१५-१९॥

यद्वा चरित्रश्रवणात्परोक्षं ज्ञानमुद्भवेत् ।
दर्शनस्पर्शनादिभ्यः प्रत्यक्षं जायते तु तत् ॥ २० ॥
परोक्षमपि न ज्ञानं कार्यमित्युक्तितः पुनः ।
सिद्धा कैमुतिकन्यायात्प्रत्यक्षस्य निषिद्धता ॥२१॥

अथवा श्रवण से परोक्षज्ञान होता है दर्शनादि से प्रत्यक्ष होता है। परोक्ष का निषेध हुआ तो प्रत्यक्षनिषेध कैमुतिकन्याय सिद्ध है ॥२१॥

*प्रविष्टः कर्णरन्ध्रेण स्वानां भावसरोरुहम् ।
धुनोति शमलं कृष्णः सलिलस्य यथा सरित् ॥२२॥
शृण्वतां स्वकथाः कृष्णः पुण्यश्रवणकीर्त्तनः ।
हृद्यन्तःस्थो ह्यभद्राणि विधुनोति सुहृत् सताम्* ॥२३॥
इत्यादिवचनात्कृष्णप्रवेशद्वारियं श्रुतिः ।
किं च नामात्मकं गात्रं हरेः श्रोत्रेण गृह्यते ॥ २४ ॥
दर्शनस्पर्शनाद्यं तु लभ्यते नापि लभ्यते ।
नामैवोद्धर्तृ कृष्णस्य सर्वेषामविशेषतः ॥ २५ ॥
किं च ज्ञानं गुरोः प्राप्यं श्रोत्रेणैव न संशयः ।
ततश्च भगवत्प्राप्तौ श्रोत्रं स्यान्मुख्यमिन्द्रियम् ॥२६॥
मुख्यसंप्रत्ययाच्चात्र न्यषेधीच्छ्रवणं मुनिः ।
तच्चोपलक्षणं बोध्यमित्यप्यन्ये प्रचक्षते ॥ २७ ॥

भगवान कान से हृदय में प्रविष्ट होकर हृदय का मल नष्ट करते हैं इत्यादि वचन से भगवत्प्रवेश का मुख्य द्वार कान है। दूसरी बात भगवान का नामात्मक शरीर तो कान से गृहीत होता है। भगवान का दर्शनदि मिले या न मिले नाम तो उद्धारक है ही। और भी बात यह है कि गुरूपदेश तो कान से प्राप्त होता है। अतः भगवत्प्राप्ति में मुख्य कान सिद्ध हुआ। मुख्यसंप्रत्यय से स्त्रीचरित्रादि श्रवणनिषेध किया और वह उपलक्षण है ऐसा भी कहते हैं ॥२२-२७॥

कामप्रवर्धनं वृत्तं स्त्रीचरितविवक्षितम् ।
भूयान् स दोष इति च प्रथमं समुदाहृतम् ॥ २८ ॥

*न तथास्य भवेन्मोहो बन्धश्चान्यप्रसङ्गतः ।
योषित्सङ्गाद्यथा पुंसो यथा तत्सङ्गिसङ्गतः ॥२९॥

पदापि युवतीं भिक्षुर्न स्पृशेद्दारवीमपि ।
इति कामप्रवृत्तिर्हि तत्र तत्र निषिध्यते ॥ ३० ॥

स्त्री चरित्र का अर्थ है कामवर्धक वृत्त। 'न तथास्य' इत्यादि वचनों में भी कामप्रवृत्ति का ही निषेध है ॥२८-३०॥

लोभप्रवर्धनं वृत्तं धनशब्दविवक्षितम् ।
अनन्तोऽसौ धनप्राप्तेर्लाभाल्लोभः प्रवर्धते ॥ ३१ ॥

धन का अर्थ है लोभ वर्धक वृत्त। लाभ से लोभ ही बढ़ता जाता है ॥३१॥

क्रोधप्रवर्धनं यद्यप्युच्यते नास्तिकेत्यतः ।
तथापि चर्षेराधिकविवक्षात्र प्रतीयते ॥ ३२ ॥

यद्यपि क्रोधवर्धक वृत्त ही नास्तिकवैरिचरित्र का मतलब है। तथापि यहाँ कुछ अधिक विवक्षा प्रतीत होती है ॥३२॥

परलोको हि नास्तीति मतिर्यस्य स नास्तिकः ।
आम्नायज्ञो मनुस्त्वाह * नास्तिको वेदनिन्दकः* ॥३३॥

यो गुरुं भगवन्तं वा महान्तं भक्तमेव वा ।
विनिन्दति तमेवान्ये नास्तिकं संप्रचक्षते ॥३४॥

नास्तिकानां प्रसङ्गेन श्रद्धा विश्वासलक्षणा ।
विलुण्ठ्यते महद्द्युम्नं तस्मात्तं दूरतस्त्यजेत् ॥३५॥

*गुरोर्यत्र परीवादो निन्दा वापि प्रवर्त्तते ।
कर्णौ तत्र पिधातव्यौ गन्तव्यं वा ततोऽन्यतः *॥३६॥

*निन्दां भगवतः शृण्वंस्तत्परस्य जनस्य वा ।
ततो नापैति यः सोऽपि यात्यधः सुकृताच्च्युतः* ॥३७॥

इत्येवं शास्त्रवचनात्तत्सङ्गो विनिषिध्यते ।
तद्वृत्तमपि न श्राव्यमितीह मुनिनोच्यते ॥३८॥

परलोक को न मानने वाला नास्तिक है, वेदनिन्दक नास्तिक है, गुरु भगवान आदि का निन्दक नास्तिक है, ऐसे नास्तिक के भिन्न लक्षण बताये हैं । उनके संग से श्रद्धा रूपी धन लुट जाता है । अत एव निन्दा स्थल से हटने के लिए मनुस्मृति में और भागवत में बताया । नारदजी तो निन्दक का चरित्र भी न सुनने के लिए कहते हैं ॥३३-३८॥

ननु शास्त्रान्तरेणैव नास्तिकादिप्रसाङ्गिता ।
निषिद्धेति कुतः सैषा शास्त्रेऽस्मिन् विनिषिध्यते ॥३९॥

पुमर्थत्वेन सर्वेषां नास्तिकादेरसाङ्गिता ।
धर्मशास्त्रेषु कथिता न वक्तव्यात्र सा पृथक् ॥ ४० ॥

निषिद्धाचरणे पापं क्व भक्तिः पापिनो भवेत् ।
भक्तिसाधनता सिद्धा तत्यागे चेति चेन्न तत् ॥४१॥

क्रतौ नैवानृतं ब्रूयादितिवद्धि विशेषतः ।
साधनान्यत्र सर्वाणि प्राप्तान्यप्यगदीन्मुनिः ॥४२॥

यद्यपि नास्तिकसंगादि का धर्मशास्त्र से ही निषेध प्राप्त हैं। निषिद्धाचरणसे पाप होता है तो भक्ति कहां से होगी। तथापि क्रतु में असत्य न बोलें, इस प्रकार यहां प्राप्त की विशेषोक्ति है ॥३९-४२॥

ननु स्यात्क्रतुवैगुण्यमनृतोक्तौ तथात्र च ।
किं वैगुण्यं यतः सर्वं विशेषेण निगद्यते ॥ ४३ ॥

न च वाच्यं स्त्र्यादिवृत्तश्रवणे विगुणो भवेत् ।
कीर्त्तनादिस्ततो नैव साध्या भक्तिर्भवेदिति ॥४४॥

यस्य स्मृत्या च नामोक्त्या यज्ञदानक्रियादिषु ।
न्यूनं संपूर्णतां याति वैगुण्यं तत्र किं भवेत् ॥ ४५ ॥

अत्राहुः श्रवणं चैव श्रवणादृष्टमेव च ।
ज्ञानस्य कारणं यद्वत्तद्वदत्रापि बोध्यताम् ॥ ४६ ॥

कीर्त्तनं कीर्त्तनादृष्टं द्वयं स्याद्भक्तिसाधनम् ।
स्त्रीवृत्तादिश्रवणतो नादृष्टं कीर्त्तनाद् भवेत् ॥ ४७ ॥

पूर्वपक्ष यह होगा कि भगवतस्मरणादि मात्र से यज्ञादि क्रिया में भी न्यूनता नहीं रह जाती, उस भक्तिसाधन स्मरण कीर्तनादि में विगुणता क्या होगी ? इसका उत्तर यह है कि स्त्रीवृत्तादि श्रवण से कीर्त्तनादि जन्य अदृष्ट नहीं होगा। और कीर्त्तनादि एवं तददृष्ट दोनों ही भक्तिकारण है। जैसे ज्ञान में श्रुतिश्रवण तथा तज्जन्य अदृष्ट दोनों कारण है ॥४२–४७॥

अथवा शास्त्रसंक्षेपो नारदेन महर्षिणा ।
भक्त्यर्थं विहितस्तेन नान्यशास्त्राद् गतार्थता ॥४८॥
अनन्तपारं शास्त्रं तु कालोल्पो बहुविघ्नता ।
तत्सारं नारदः प्राह दयापरवशो मुनिः ॥४९॥

अथवा भक्त्युपयोगी सर्वशास्त्रार्थ संग्रह होने से शास्त्रान्तर से गतार्थता नहीं है। समस्त शास्त्रों का पढ़ना समययापन है यदि सार मिलता हो। दयालु नारदजी ने अत एव यह सार बताया ॥४८–४९॥

अतो दृष्टफलस्यापि साधनस्यात्र वर्णनम् ।
क्वचित्तावद्दयासिन्धोर्दयापरिणतिर्मता ॥ ५० ॥

अतएव कुछ दृष्ट फलवाले साधनों का कथन भी यहां सार्थक है ॥५०॥

ॐ

ॐ

वाह्यं निषिध्य भगवान्नृषिर्दोषप्रसञ्जनम् ।
निषेधत्यान्तरं संप्रत्यभिमानेति सूत्रतः ॥ १ ॥

वाह्य दोष बताया अब अन्तर दोष देखिए ॥१॥

अभिमानदम्भादिकं त्याज्यम् ॥६४॥

अभिमान दम्भादि का परित्याग करें ॥६४॥

स्वरूपतोऽपि संत्याज्या अभिमानादयो नृभिः ।
भगवत्यपि नैतेषां विनियोगोऽनुमन्यते ॥ २ ॥

पहले सूत्र में कामादि का त्याग करें न कह कर स्त्रीवृत्त श्रवणादि न करें, ऐसा इस लिए कहा कि कामादि का भगवान में भी विनियोग होता है। परन्तु अभिमानदम्भादि का भगवान में भी विनियोग नहीं हो सकता, इस आशय से इस सूत्र में अभिमानादि का नाम ग्रहणपूर्वक निषेध है ॥२॥

अध्यस्यानात्मना सार्धमारोप्य स्वे च तद्गुणान् ।
अहं धनी सुखीत्येवं मूढाः खल्वभिमन्वते ॥ ३ ॥

आत्मा में अनात्माध्यासपूर्वक अनात्मगुणों का अध्यास कर अपने को धनी सुखी इत्यादि रीति मूढ़ पुरुष अभिमान करता है ॥३॥

करणीयतया तस्मिन् योऽभिमानस्तु वक्ष्यते ।
पृथगस्मात् स तद्व्याख्या तत्रैव प्रकरिष्यते ॥ ४ ॥

भगवान में करणीय अभिमान इस अभिमान से पृथक है ॥४॥

*जन्मैश्वर्यश्रुतश्रीभिरेधमानमदः पुमान् ।
नैवार्हत्यभिधातुं वै त्वामकिंचनगोचरम्* ॥ ५ ॥

इत्यत्र दर्शितः सोऽयमभिमानो मदात्मकः ।
स्वरूपतः स संत्यज्यो महापतनकारणम् ॥ ६ ॥

एवं विवेकरहिताः केचिद्वैष्णवमानिनः ।
वैष्णवत्वान्निजान् श्रेष्ठान्नीचांश्चान्यान्विचक्षिरे ॥७॥

मैं ब्राह्मण हूँ, मैं राजा हूँ, मैं विद्वान हूँ, मैं धनी हूँ इत्यादि अभिमान वाले भगवान का नाम भी बराबर नहीं ले पाते। मैं वैष्णव हूं, अतः श्रेष्ठ हूँ, दूसरे नीच हैं, यह भी उसी प्रकार का अभिमान है ॥५-७॥

*हरौ रतिं वहन्नेष नरेन्द्राणां शिखामणिः ।
भिक्षामटन्नरिपुरे श्वपाकमपि वन्दते* ॥ ८ ॥

इत्थं निरभिमानित्वदृष्टान्तविधया नृपम् ।
भक्तं भगीरथं पाद्मे आचष्टे स्पष्टवाक्यतः ॥ ९ ॥

पद्म पुराण में भगीरथ के बारे में कहा है—हरि भक्त नरेन्द्र शिरोमणि वह शत्रुगृह में भिक्षा लेते हुये चांडाल को भी नमस्कार कर रहे हैं ॥८-९॥

अथाभिमानद्वेषित्वमीश्वरस्य पुरोदितम् ।
ततस्तत्त्यागलाभेन किमर्थमधुनोच्यते ॥ १० ॥

अत्राहुर्ज्ञानयोगादेर्भक्त्याधिक्यविवक्षया ।
ईशकारुण्यभूयस्त्वबीजं प्राक् समसूचयत् ॥ ११ ॥

तावतानभिमानत्वं हेतुत्वेन न सिद्ध्यति ।
ज्ञानादौ तदभावेऽपि क्रमात्फलसमुद्भवात् ॥ १२ ॥

सिद्धवत्कृत्य कथितां पूर्वं निरभिमानिताम् ।
ब्रूतेऽत्र साधनत्वेनेत्येवं सर्वं समञ्जसम् ॥ १३ ॥

यद्यपि पहले ''ईश्वरस्याप्यभिमानद्वेषित्वात्'' कहकर अभिमान त्याग सूचित किया । अतः यहां उसका पुनः कथन उपयोगी प्रतीत नहीं होता । तथापि ज्ञानादि से भक्ति क्यो श्रेष्ठ है ? चूँकि भक्ति में अभिमान न होने से ईश्वर का कारुण्य रहता है. ज्ञानी आदि में वह नहीं होता, ईश्वर अभिमानद्वेषी है इस प्रकार अन्यत्र कथित निरभिमानित्व का वहां अनुवाद मात्र है, साधनविधान नहीं है । अतः यहां साधनरूप से कहना समुचित ही है ॥१०–१३॥

महीयस्त्वमसत् सद्वा निजं दर्शयितुं परान् ।
मृषा बाह्यव्यवहृतिर्दम्भ इत्यभिधीयते ॥ १४ ॥

अपनी महत्ता दिखाने का मिथ्या बाह्य व्यवहार दम्भ कहलाता है ॥१४॥

पश्य लक्ष्मण पम्पायां बकः परमधार्मिकः ।
इति रामादिवचनेष्वेतदीयं निदर्शनम् ॥ १५ ॥

दम्भी को ही लोक में बगला भगत कहते हैं ॥ १५॥

आदिशब्देन संत्याज्या उच्यन्ते कपटादयः ।
पट आवरणं कस्य सुखस्य कपटः स तु ॥ १६ ॥

आदि शब्द से कपट इत्यादि का ग्रहण है क=सुख का पट =आवरण कपट है ॥१६॥

एतेषां परिहेयत्वं सुज्ञेयमिति नारदः ।
आदिशब्दं प्रयुङ्क्ते स्म व्याख्या नातिप्रयोजना ॥१७॥

आदि पद से काम इस लिए चलाया कि इन सब की त्याज्यता साधारण लोग भी आसानी से समझ सकते हैं ॥१७॥



—०—



स्वरूपतोऽपि संत्याज्या इमे दम्भादयस्ततः ।
नामतस्ते विनिर्दिष्टा न तु कामादयस्तथा ॥ १ ॥

विनियोगस्तु कामादेरन्यथापि भवेत्ततः ।
स्त्रीचरित्रादिकं नैव श्राव्यमित्येव संजगौ ॥ २ ॥

कामादीनां कथं तर्हि विनियोगोऽन्यथा भवेत् ।
जिज्ञासां शमयन्नेतामाचष्टे साधनान्तरम् ॥ ३ ॥

दम्भ इत्यादि को सर्वथा छोड़ना चाहिये, कामादि को नहीं, इस आशय से दम्भादि का नाम लेकर त्याज्य कहा और कामादि का स्त्री चरित्र न सुनो इत्यादि रीति कहा। 'कामादि का प्रकारान्तर से विनियोग संम्भव है। वही प्रकार बताते हुये भक्ति साधन कहते हैं ॥१-३॥

किं च दम्भादयो दोषा जायन्ते स्वाविवेकतः।
कामादयस्तु संस्काराद्धुद्भवन्ति स्वभावतः ॥ ४ ॥
तस्माद्दम्भादिहननं विवेकेन विधीयताम्।
कामादिहननं त्वीशाश्रयेणेत्युच्यतेऽधुना ॥ ५ ॥

अथवा उत्तर सूत्र का अवतरण इस प्रकार समझें कि दम्भ करना आदि केवल अविवेक मात्र है। अतः विवेक से उन्हें नष्ट करें। किन्तु कामादि दोष स्वभाव संस्कार से होता है। उनको नष्ट करने के लिए भगवान का आश्रय लो। यह कहते हैं ॥४-५॥

तदर्पिताखिलाचारः सन् कामक्रोधाभिमानादिकं तस्मिन्नेव करणीयम् ॥६५॥

भगवान में सर्वकर्मसमर्पण करें और काम क्रोध अभिमानादि भगवान में ही करें ॥६५॥

प्रथमात्र तृतीयार्थे ह्यार्षत्वाच्छब्दसाधुता।
स्यादित्यर्थेऽथवा सन् स्यात्तदा वाक्यद्वयं भवेत् ॥६॥

करणीयमितीदं वा पदं स्यात्कर्मकारके।
संपादयेदिति ततो वाक्यशेषः प्रयोज्यताम् ॥ ७ ॥

तदर्पिताखिलाचारेण सता इस प्रकार तृतीयान्त प्रयोग के स्थान में प्रथमान्त का प्रयोग आर्षप्रयोग है। अथवा सन् का स्यात् अर्थ करके दो वाक्य कर लेना चाहिये। अथवा करणीयं के बाद सम्पादयेत् ऐसा वाक्यशेष जोड लेना चाहिये। करणीयं यह द्वितीयान्त मान लेना चाहिये ॥६-७॥

तदर्पिताखिलाचारभावः प्राग्भक्तिलक्षणम्।
प्रत्यपादि पुनः कस्मादिहेदं समुदीर्यते ॥ ८ ॥

न च प्राग् लक्षणं प्रोक्तमधुना साधनं ततः।
प्रसङ्गभेदादुभयं युक्तमेवेति सांप्रतम् ॥ ९ ॥

साधनं साधकानां तद् यद्यतः सिद्धलक्षणम्।
स्थितप्रज्ञप्रकरणे तथा भाष्यकृतेरणात् ॥ १० ॥

अत्राहुः सन्पदेनात्र दर्श्यते पुंविशेषणम्।
कामादेस्तत्र कार्यत्वे प्रयोजकतयान्वयि ॥ ११ ॥

भक्तिसाधनता पूर्वं सर्वाचारतदर्पणे।
तस्मिन् कामादिकार्यत्वे साधनत्वमिहोच्यते ॥ १२ ॥

नारदस्तु तदर्पिताखिलाचारता इत्यादि यद्यपि पहले कहा जा चुका है और सिद्धलक्षण ही साधकों का साधन होने से पूर्व लक्षण कथन है, यहां साधनकथन है, ऐसा विभाग भी व्यर्थ है। तथापि पहले आचरणसमर्पण को भक्तिसाधन बताया और यहां काम-क्रोधादि भगवान में ही कैसे कर सकते हैं इसके उपाय के रूप में कहा। अतः विषयभेद होने से दोष नहीं है ॥८-१२॥

वैशिष्ट्यं वा सन्पदार्थ आचारार्पणसंयुतम् ।
तस्मिन् कामादिकरणमन्यथा प्रत्यवायिता ॥१३॥
स्वार्थासिद्धावीश्वराय कुप्यन्ति कुधियो मुधा ।
अनर्पयन्तः स्वाचारान् व्युदस्यन्तेऽत्रतादृशाः ॥१४॥

अथवा सन् पद का विशिष्ट (युक्त) अर्थ है। अर्थात सर्वाचार-समर्पण करते हुये ही कामादि को भगवान में करना चाहिये। लोग स्वार्थ सिद्ध न होने पर भगवान पर नाराज होते हैं, उस से तो प्रत्यवाय लगेगा ॥१३-१४।

व्याख्या तु पूर्ववत्सर्वा तथाप्यत्र विशेषतः ।
अर्पणीयाः किलाचाराश्चिन्त्यन्ते कीदृशा इति ॥१५॥

व्याख्या पूर्ववत् ही है। फिर भी अर्पणीय आचारों के बारे में विमर्श करेंगे ॥१५॥

भगवत्यर्पितं कर्म भवेत्कोटिगुणाधिकम् ।
नार्पणीयं ततोऽधर्म इत्येके कर्मयोगिनः ॥ १६ ॥

भगवदर्पित कर्म कोटिगुण से अधिक होता है। चाहे वह धर्म हो, चाहे अधर्म। अतः अधर्म का अर्पण न करें, वह भी कहीं कोटि गुण न हो जाय, इस प्रकार कर्मयोगियों का कथन है ॥१६॥

सत्कर्मैवार्पितं विष्णौ भवेत्कोटिगुणाधिकम् ।
भस्मीभवेदर्पितोऽन्य इत्यन्ये कर्मकोविदाः ॥ १७ ॥

सत्कर्म ही कोटिगुण होता है, अधर्म तो भगवदर्पण होने पर भस्मीभूत होगा, ऐसा दूसरों का मत है ॥१७॥

अर्पितः केवलाधर्मो भवेत्कोटिगुणाधिकः ।
उभयोरर्पणे पूर्वयुक्तिरित्यपरे विदुः ॥ १८ ॥

केवल अधर्मसमर्पण करेंगे, तो वह कोटिगुणाधिक होगा। धर्म अधर्म उभयार्पण करें तो धर्म कोटिगुण होगा और अधर्म दग्ध हो जायगा, ऐसा अन्य मत है ॥१८॥

शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे त्वमिति स्मृतेः।
दग्धं भवेदुभयमित्यन्ये प्राहुर्विचक्षणाः ॥ १९ ॥

शुभ अशुभ दोनों फल से मुक्त होओगे, इस भगवदुक्ति से शुभाशुभ दोनों कर्म दग्ध हो जाते हैं, ऐसा विद्वानों का मत है ॥१९॥

न चैवं निष्फलं सर्वं भवेत्कर्मेति सांप्रतम्।
भगवत्प्रीतिरेव स्याद्यतस्तस्य महाफलम् ॥ २० ॥

सर्व दग्ध होने पर भी भगवत्प्रीति महाफल होने से कर्म व्यर्थ नहीं होता ॥२०॥

प्रेष्ठस्य दुःखं जनयेदधर्मोऽयं समर्पितः।
तस्मान्नैवार्पणीयः स इत्याहुर्भक्तियोगिनः ॥ २१ ॥

अधर्म का अर्पण करने से भगवान को क्लेश होगा, अतः अधर्म का अर्पण न करें, ऐसा भक्तों का मत है ॥२१॥

यद्यत्र कश्चिद्दोषः स्यान्मन्दबुद्धेर्ममैव सः।
गुणः कोप्यत्र दृष्टश्चेद् गुरोरेव न संशयः ॥ २२ ॥
इत्येवं गुरुभक्ताश्च गुरौ गुणसमर्पणम्।
विवेकिनो विदधिरे न तु दोषसमर्पणम् ॥ २३ ॥

यदि कोई दोष इस में हो तो वह मुझ मन्द बुद्धि का ही है। कोई गुण हो तो वह गुरुदेव का ही है, इस प्रकार विवेकी गुरुभक्त

भी गुण समर्पण करते पाये जाते हैं, दोष समर्पण करते नहीं ॥२२-२३॥

अर्पणीयं स्वसत्कर्म निवेद्यमपरं तथा ।
मयापराधो जातोऽयमित्यन्ये भक्तियोगिनः ॥ २४ ॥

अन्य भक्तों का कहना है कि सत्कर्म का तो समर्पण करें और असत्कर्म का केवल निवेदन करें कि मेरा यह अपराध हो गया ॥२४॥

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया* ॥ २५॥
स एव कारयेत्साधु कर्म यं ह्युन्निनीषते ।
अधो निनीषते यं च स एवासाधु कारयेत् ॥ २६ ॥
इत्यादिवचनात् सर्वं कर्म कारयते प्रभुः ।
तथाभावनया सर्वकर्मार्पणमितीतरे ॥ २७ ॥

ईश्वर ही जिन को उठाना हो उन से सत्कर्म और जिनको गिराना होउनसे असत्कर्म कराते हैं, वही यन्त्रवत सबको घुमाते हैं, इसी भावना रूपी सर्वकर्मार्पण अन्य लोग मानते हैं ॥ २५-२७॥

श्रेयानत्र च कः पक्ष इति चेत्सर्व एव हि ।
स्वस्वभावानुसारेण सर्वेषां सिद्धिरिष्यते ॥ २८ ॥

इन में श्रेष्ठ पक्ष कौन ? तो उत्तर यह हैं कि सभी श्रेष्ठ है। अपने अपने भाव के अनुसार सब को सिद्धि मिलती है ॥२८॥

धर्माधर्मविभागोऽयं साधकानां विधीयते ।
सर्वथा प्रेष्ठसंस्थस्य का विभागविचारणा ॥ २९ ॥

यह धर्माधर्म विभाग तो साधकों के लिए है। जो सर्वथा भगवान में ही रहता है, उसके लिए वह विभाग-विचार ही नहीं उठता ॥२९॥

ननु स्त्रियः प्रकुर्वन्तु कामं कुब्जादिवद्धरौ ।
पुरुषास्तु कथं कुर्युः कामं तस्मिन् परेश्वरे ॥ ३० ॥

राधादयो मातृरूपाः कामस्तत्र न युज्यते ।
न च प्रेमैव कामोऽत्र प्रसङ्गस्य विरोधतः ॥ ३१ ॥

अत्राहुः पुरुषाणां हि भगवद्रूपदर्शनम् ।
निजस्त्रियां विधायैव कामः कार्य इतीर्यते ॥३२ ॥

पूर्व पक्ष यह है कि कुब्जा आदि स्त्रियां भले·ही भगवान में काम करें, पर, पुरुष काम कैसे कर सकते हैं । यदि कहें कि यहां काम का अर्थ प्रेम ही हैं तो प्रसङ्ग ·विरोध होगा। यह साधन का प्रकरण है । भगवान में प्रेम तो भक्ति है, वह फल है, इसे पहले ही कह दिया है. इस पूर्वपक्ष का समाधान कुछ लोग यह देते हैं कि स्वकीय पत्नी में भगवद्भावना करके उसमें काम करना ही सम्भावित अर्थ है ॥३०-३२॥

अथ वा कामशब्दोऽयमिच्छासामान्यवाचकः ।
यत्किंचिद्वस्तुनीच्छा चेन्नैवान्यं प्रार्थयेदिति ॥३३॥

इच्छन्नपि शिशुर्यद्वन्नैवान्यमुखमीक्षते ।
रोदित्येवान्तिके मातुर्भक्तो भगवतस्तथा ॥ ३४ ॥

न चैवमभिमानादीत्यादिना लोभसंग्रहः ।
व्यर्थः स्यादिति चेदस्तु मोहादेरादिना ग्रहात् ॥३५॥

अथवा काम शब्द का ईच्छासामान्य अर्थ है। जैसे शिशु अपनो जो भी इच्छा हो, मां से ही मांगता है वैसे भक्त भी सभी इष्टवस्तु भगवान से ही मांगता है। शंका करें कि सूत्र में अभिमानादि इस आदि पद से लोभादि का सग्रह फिर व्यर्थ होगा, कारण लोभ भी तो इच्छाविशेष ही है तों इसका उत्तर यह है कि आदि पद से लोभ को मत लो, मोहादि लेलो ॥३३–३५॥

अथ वात्रादिशब्दोऽयं प्रकारवचनो भवेत् ।
यथा भूवादयःसूत्रे वासादृश्यं प्रदृश्यते ॥ ३६ ॥

साचालिलिङ्गिषादिः स्यात्कामेन सदृशः खलु ।
वा च वासदृशो यद्वत्क्रोधः क्रोधसदृक् तथा ॥३७॥

अथवा सूत्र में आदि शब्द का प्रकार अर्थ है। भूवादयः इस सूत्र में एकशेषगत एक आदि का प्रकार अर्थ है । कामसदृश तो अलिङ्गनेच्छादि समझना चाहिये। वाधातु सदृश वा धातु भी है वैसे क्रोधसदृश क्रोध भी है। वैसे अन्य भी समझें ॥३६–३७॥

अव्यवस्थार्थको वा स्यादादिशब्दोऽत्र सूत्रगः ।
यथासंभवमाधेयाः कामक्रोधादयो हरौ ॥ ३८ ॥

अथवा आदि शब्द का अव्यवस्थित अर्थ है (जैसे लोक में दाल मिरची मसाला वगैरह खरीदो, कहने पर सभी खरीदना अर्थ नहीं, परन्तु जो आवश्यक हो वह खरीदो अर्थ है) काम क्रोधादि यथासम्भव हरि में हो करो यह सुत्रार्थ है ॥३८॥

*कामं क्रोधं भयं स्नेहमैक्यं सौहृदमेव च ।
नित्यं हरौ विदधतो यान्ति तन्मयतां हि ते* ॥३९॥

इति भागवतप्रोक्तमिह संक्षिप्य कथ्यते ।
प्रसिद्धत्वाद्यथायोग्यधृत्यै चादिरयोज्यत ॥ ४० ॥

काम, क्रोध, भय, स्नेह, ऐक्य और सौहृद को नित्य हरि में करने पर तन्मयता होती है। इस भागवतश्लोकार्थ का यहां संक्षेप है। प्रसिद्ध होने से आदि पद है, और यथायोग्य ग्रहणार्थ भी आदि पद है ॥३९-४०॥

स्त्रियामप्यन्यथा नैव सर्वेषां तत्र संभवः।
यत्र वात्सल्यभावोऽत्र कामः कथमुपेयताम् ॥ ४१ ॥

कुछ लोग उक्त भागवत श्लोक को और इस सूत्र को उक्तानुपपत्ति से केवल भक्त स्त्री विषयक मानते हैं। वह असंगत है। कारण यथायोग्य जोड़ कर व्याख्या नहीं करेंगे, तो स्त्रियों में भी श्लोकार्थ संगमन नहीं हो सकेगा। कारण स्नेह पद से और यहां आदि पद से भी वात्सल्य प्रेम विवक्षित है। जहां यशोदा माता आदि में वात्सल्य प्रेम होगा, वहां काम कैसे माना जा सकता है, यह विचार करो ॥४१॥

केचित्तु भक्ते कामादेरासुर्या सम्पदः क्वचित्।
असंभवादिहान्यादृक् कामादेर्ग्रहणीयता ॥ ४२ ॥

*न वयं साध्वि साम्राज्यं स्वाराज्यं भौज्यमप्युत।
वैराज्यं पारमेष्ठ्यं च आनन्त्यं वा हरेः पदम् ॥ ४३ ॥

कामयामह एतस्य श्रीमत्पादरजःश्रियः।
कुचकुङ्कुमगन्धाढ्यं मूर्ध्ना वोढुं गदाभृतः* ॥ ४४ ॥

इत्यादिवचनाच्चापि कामादेस्तेष्वसंभवः।
अन्यादृशः पुनर्दृष्टो व्रजगोपीष्वसौ स्फुटम् ॥ ४५ ॥

रासभ्रमरगीतादौ वीक्षितं च तदन्यथा ।
कामक्रोधाभिमानादि प्रेममाधुर्यतुन्दिलम् ॥ ४६ ॥

कुछ लोगों का कहना है कि भक्तों में कामक्रोधादि आसुरी-सम्पत्ति सम्भव नहीं हैं । साम्राज्यादि की भी वे कामना नहीं करते । और रासलीला भ्रमरगीतादि में विलक्षण कामक्रोधाभिमानादि देखने में आते हैं जो कि प्रेमसागर के ही तरंगोपम हैं । अतः उन्हीं काम-क्रोधादि का यहा ग्रहण है ॥४२-४६॥

तच्चिन्त्यं भक्तिसौलभ्यचिन्तनावसरे कुतः ।
सिद्धभक्तस्वभावस्य वर्णनं क्रियतामिह ॥ ४७ ॥

उक्त व्याख्या समीचीन प्रतीत नहीं होती । कारण साधनों के प्रकरण में सिद्ध भक्तों का स्वभाववर्णन संगत नहीं हो सकता ॥४७॥

किं च कामादयः सिद्धभक्तानां स्वत एव हि ।
भवन्ति भगवत्येव विध्यपेक्षाऽस्य भो कुतः ॥ ४८ ॥
करणीयमसौ शब्दः कृत्यान्तो विधिबोधकः ।
साधकानां विधिर्युक्तो न तु सिद्धस्य कुत्रचित् ॥४९॥
न वा विलक्षणाः प्रोक्तकामाद्याः शक्यसाधनाः ।
साधकैरिति तेषां च नैव तद्विधिसंभवः ॥ ५० ॥

दूसरी बात सिद्धभक्तों का तो अपने आप कामादि भगवान में होते हैं, उनको 'करणीय' इस विधि की जरूरत नहीं है, और साधक भक्तों में उक्त विलक्षण कामादि सम्भव नहीं है । अतः उनके लिए भी विधि व्यर्थ है ॥४८-५०॥

वस्तुतः कल्प्यते गोपीकामादिर्न विलक्षणः ।

तद्दृष्टान्त पुरस्कृत्यैवान्येषां तद्विधानतः ॥ ५१ ॥

वस्तुतः गोपिकाओं के काम क्रोधादि विलक्षण है, ऐसी कल्पना नहीं की जाती । कारण उन्हीं का दृष्टांत रखकर भगवान में काम क्रोधादि करने का विधान किया जाता है ॥५ ॥

प्रथमं कामरूपोऽपि पश्चात्प्रेमात्मतां व्रजेत् ।

तं तु भेदमनादृत्य स दृष्टान्तो विधीयते ॥ ५२ ॥

यद्यपि प्रथम कामरूप ही पश्चात्प्रेम हो जाता है । गोपिकाओं का काम प्रेमरूप हो चुका था । तथापि इतना भेद न रख कर ही गोपिकाओं का उदाहरण देकर भगवान में कामादिकरण विधान किया जाता है ॥ ५२॥

ननु दम्भाभिमानादिस्त्याज्य एव स्वरूपतः ।

इत्युक्तत्वात्कथंकारमभिमानस्य कार्यता ॥ ५३ ॥

अत्रोच्यते द्विधा तावदभिमानः प्रकीर्तितः ।

स्वमहीयस्त्वविषयः स्वधर्मविषयस्तथा ॥ ५४ ॥

*असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि ।

ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान् सुखी* ॥५५॥

इत्यादिरभिमानस्तु त्याज्य एव स्वरूपतः ।

न तस्य विनियोगस्तु कुत्रचित्सद्भिरिष्यते ॥ ५६ ॥

भजेऽहं चरणौ विष्णोः सेविष्येऽहं हरेर्जनान् ।

पूजादिः खलु मद्धर्माः सोऽभिमानोऽपरो मतः ॥ ५७ ॥

यद्वाभिमानशब्देन मान एवात्र गद्यते।
दृष्टश्च बहुधा मानो राधिकादेर्हरिं प्रति ॥ ५८ ॥

अथ वा यहां अभिमान का मान ही अर्थ है। जैसे राधा आदि मान करती थी ॥५८॥

काम-क्रोध-भय-स्नेह-हर्ष-शोक-दयादयः।
तापकाश्चित्तजतुन इति प्रागुपदर्शितम् ॥ ५९ ॥

काम, क्रोध, भय, स्नेह, हर्ष, शोक इत्यादि चित्त का द्रावक हैं ॥५९॥

द्रुते चित्ते प्रविष्टाश्च न वीयुः स्त्रीधनादयः।
अतः कामादयः सर्वे करणीयाः परेश्वरे ॥ ६० ॥

हरिगोचरकामादिद्रुतचित्ते विशन् हरिः।
कदाचिदपि तन्नैव जहातीति सतां मतम् ॥ ६१ ॥

स्त्री आदि विषयक कामादि से द्रुतचित्त में स्त्री आदि प्रविष्ट होंगे, अतः हरि विषयक ही कामादि करें ॥६०–६१॥

तमेव परमात्मानं जारबुद्ध्यापि संगताः।
इत्यादौ दर्शितः कामो बुध्यतामेतदाशयः ॥ ६२ ॥

एका भ्रुकुटिमाबध्य प्रेमसंरम्भविह्वला।
इत्यादौ दर्शितः क्रोधो न परद्रोहगर्भितः ॥ ६३ ॥

तमेव परमात्मानं जारबुद्ध्या यहां उक्त काम (तदर्पिताखिलाचार) काम है। एका भ्रूकुटिमाबध्य में क्रोध परद्रोहार्थ नहीं ॥६२–६३॥

चैद्यादेर्यः पुनः क्रोधः स परद्रोहगर्भितः ।
तदर्पिताखिलाचारविशेषणपराकृतः ॥ ६४ ॥

चैद्यादि का क्रोध परद्रोहार्थ था । तदर्पिताखिलाचार से उसकी व्यवृत्ति है ॥६४॥

क्रोधो यद्यपि चैद्यादेः प्रापयत्परमां गतिम् ।
तथापि रसशून्यत्वाद् भक्तिकोटौ न स स्थितः ॥६५॥

यद्यपि क्रोध से भी चैद्यादि को परम गति मिली तथापि रस-शून्य होने से वह भक्ति कोटि में प्रविष्ट नही हो सकता ॥६५॥

यः क्रोधोऽनवतारादिकालिको द्रोहगर्भितः ।
प्रत्यवायनिदानं तदित्येवं मन्महे वयम् ॥ ६६ ॥

शिशुपालादि का क्रोध अवतार कालीन है । अतः उन्हें सद्गति मिली । अवतारादि रहित समय में वैसा क्रोध प्रत्यवाय कारण है, ऐसा हो हम मानते हैं । (अत एव यवनों ने अर्चावतार मूर्तियों को क्रोध से तोडा तो उनको शिशुपालादि कोटि में हम नहीं रख सकते ।) ॥६६॥

मा नः कितवबन्धोऽङ्घ्रिं स्पृशेत्यादिषु लक्षितः ।
अभिमानः परिग्राह्यो न पुना रावणादिगः ॥ ६७ ॥

भ्रमरगीतादि दर्शित अभिमान ग्राह्य है, न कि रावणादि का ॥६७॥

एवं कंसभयं मूर्त्तिचौर्यामित्यादिलक्षणम् ।
भयलोभादिकं सर्वं व्युदस्यात्रावबुध्यताम् ॥ ६८ ॥

इसी प्रकार कंस का भय मूर्तिचोर का लोभ आदि का व्युदास है ॥६८॥

ॐ

ॐ

साधनानि निरूप्यैत्र सुकराणि महात्मनाम् ।
साध्ये प्रेम्णि प्रवेशाय मुख्यं द्वारमथोच्यते ॥ १ ॥

सुलभ साधन निरूपण कर अब भक्ति का मुख्य द्वार बताते हैं ॥१॥

त्रिरूपभङ्गपूर्वकं नित्यदासनित्यकान्ता भजनत्मकं वा प्रेमैव कार्यं प्रेमैव कार्यम् ॥६६॥

त्रिरूपभङ्ग के साथ नित्य दास्य और नित्यकान्ताभाव से भजनात्मक प्रेम ही करना चाहिये, प्रेम ही करना चाहिये ॥६६॥

त्रिरूपभङ्गे सत्येव परं प्रेम विनिर्मलम् ।
त्रिभङ्गललितं धत्ते प्रतीकं हि ततो हरिः ॥ २ ॥

त्रिरूप भङ्ग होने पर ही निर्मल पर प्रेम होता है। इसी लिए भगवान कृष्ण प्रतीकरूप से त्रिभङ्ग ललित रूप धारण करते हैं ॥ २ ॥

ऊर्ध्वं मध्यमधश्चैव रूपं शीर्षं कटिः पदौ ।
आदिमध्यावसानानि मूलस्कन्धदलानि वा ॥ ३ ॥
देवानां त्रितयं शक्तित्रयं वर्णस्वरत्रयम् ।
अग्नित्रयं त्रयो लोकास्त्रिपादं पुष्करत्रयम् ॥ ४ ॥
दृग्दृश्यदृष्टित्रितयं कर्त्तृकार्यादिकत्रयम् ।
त्रिधा नियमितं सर्वं त्रिरूपमिति भाष्यते ॥ ५ ॥

तामाहुस्त्रिपुरां केचित् प्रकृतिं च परे जगुः ।
भगवन्तं विश्वरूपमितरे प्रतिपेदिरे ॥ ६ ॥

तद्भङ्गं तु तुरीयाख्ये पदे केचित्स्थितिं जगुः ।
भक्तावन्ये निर्गुणायामवस्थितिमचक्षत ॥ ७ ॥
त्रित्वप्रयोजकं रूपं प्रविलाप्य यथायथम् ।
प्रेमैकरसरूपत्वापादनं जगदुः परे ॥ ८ ॥
सर्वं कृष्णमयं विश्वमहं च जगदेव च ।
वासुदेवः सर्वमिति यथोक्तं हरिणापि च ॥ ९ ॥

तीन भागों में विभक्त तीन देव, तीन गुण इत्यादि सभी त्रिरूप हैं। उसे कोई त्रिपुरा, कोई प्रकृति और कोई विश्वरूप भगवान कहते हैं। उसके भंग का अर्थ तुरीय पद स्थिति या निर्गुण भक्ति में स्थिति या त्रित्व प्रयोजक रूप विलापनपूर्वक प्रेमरस मात्ररूप से स्थिति है। सभी वासुदेवमय है ऐसा दर्शन उसी से होता है ॥३–९॥

दासभावो भवेत्पुंसां कान्ताभावो भवेत्स्त्रियाम् ।
त्रिरूपभङ्गे सति च नित्यत्वं तत्र लभ्यते ॥ १० ॥

पुरुषों का दास भाव होता है और स्त्रियों का कान्ता भाव। त्रिरूपभंग होने पर दोनों में नित्यता आती है ॥१०॥

वाकारोऽत्र समाचष्टे विभाषां तु व्यवस्थिताम् ।
यथासंभवमाहो स दासकान्ताख्यभावयोः ॥ ११॥

किन्तु पाणिनिना चार्थे द्वन्द्व इत्येव सूत्रितम् ।
अत आर्षः समासोऽयं यथायोग्यजिघृक्षया ॥ १२ ॥

सूत्र में 'वा' का व्यवस्थित विभाषा अर्थ है। (व्यवस्था पूर्व श्लोक में बतायी है) अथवा यथासंभव दासभाव या कान्ताभाव रखने के लिए कहा जा रहा है। परन्तु नित्यदास नित्यकान्ता ऐसा द्वन्द्व समास तो ऋषिप्रयोग होने ही से साधु मानना पड़ेगा ॥१०-१२॥

वाकार एवकारार्थ इत्यप्यन्ये प्रचख्यिरे ।
नित्यदासस्य यो नित्यकान्ताभाव इतीतरे ॥१३॥

'वा' का एव अर्थ है ऐसा भी मत है। नित्यदास का नित्यकान्ता भाव ऐसा भी अन्वय करते हैं ॥१३॥

त्रिरूपभङ्गपूर्वं यत् कार्यं तत्प्रेम निर्गुणम् ।
यद्वास्तु नित्यदासादिभजनात्मकमेव तत् ॥१४ ॥

परे न दास्यमाधुर्यभेदः प्रेम्ण्यवतिष्ठते ।
किन्त्वसौ साधनाकाले भावभेदः सतां मतः ॥ १५ ॥

प्रेमैकरससाम्राज्ये कः पुमान् का वधूरपि
सर्वं कृष्णमयं विश्वं सर्वं प्रेममयं जगत् ॥ १६ ॥

त्रिभङ्गपूर्वकं तादृक् प्रेम चेद् दुष्करं तदा ।
दासभावादियुक्तं तत् कर्त्तव्यमिति भण्यते ॥ १७ ॥

इत्थं च नात्र वाकारस्यान्वयानुपपन्नता ।
समासानुपपत्तिर्वा सर्वं चैवं समञ्जसम् ॥ १८ ॥

वस्तुत: त्रिरूपभंगपूर्वक प्रेम करो या नित्यदासादि भजनात्मक प्रेम करो, ऐसा सूत्रार्थ है। त्रिगुणातीत प्रेम में स्त्री पुरुष दास कान्ता इत्यादि भेद हो नहीं होता। त्रिरूप भंग पूर्वक प्रेम में असमर्थ के लिए नित्यादासादि भाव बताया। अतएव 'वा' की भी उपपत्ति है और समास भी संगत होता है ॥१४-१८॥

भजनं सेवनं बोध्यं प्रेमेत्यग्रे समीरणात् ।
सेवने भावभेदश्च सम्यगेवोपपद्यते ॥ १९ ॥

भजन का प्रेमलक्षणा भक्ति यहां अर्थ नहीं है। कारण, प्रेम कार्य यह आगे बताया है। किन्तु सेवन अर्थ है, उस में भावभेद भी युक्त ही है ॥१९॥

प्रेम्णो हि परमोत्कर्षाद् द्विरुक्तिर्मुनिना कृता ।
नैवान्यत् साधनं किंचिन्नैव साध्यं तथेतरत् ॥२०॥

प्रेम परम उत्कृष्ट होने से द्विरुक्ति है। अन्य कोई साधन नहीं और कोई साध्य नहीं दोनों प्रेम ही है, अतोऽपि द्विरुक्ति है ॥२०॥

यद्वा साधनसंयुक्तप्रेम्णो व्याहृत्य कार्यत म् ।
विशुद्धप्रेमकार्यत्वं द्वितीयेनाह नारदः ॥ २१ ॥

अथवा प्रथम साधन संयुक्त प्रेम की कर्तव्यता बतायी । और दूसरी बार विशुद्ध प्रेम की कार्यता बतायी ॥२१॥

त्रिरूपभङ्गवैशिष्टयमप्यस्त्येव विशेषणम् ।
अतः साधनसंयुक्तं तदप्यस्तीति मन्महे ॥ २२ ॥

त्रिरूपभगविशिष्ट भी सविशेषण होने से साधनसंयुक्त ही है ॥२२॥

कार्यं सम्पाद्यमित्यर्थस्तेन नाकार्यताक्षतिः ।
आविर्भवति हि प्रेम्न विशुद्धं तदितीरितम् ॥ २३ ॥

कार्य का अर्थ सम्पादनीयं करना चाहिये । क्योंकि विशुद्ध प्रेम का आविर्भाव होता है, उत्पत्ति नहीं, यह पहले कह आये हैं ॥२३॥

इदं तु बोध्यं दासः स योऽपृथक्स्वो निजेश्वरात् ।
कान्ताप्यर्धाङ्गरूपत्वादपृथक्स्वत्वलक्षणा ॥ २४ ॥

दास भाव में स्वामी से और कान्ता भाव में पति से पृथक अपना स्वत्व नहीं होता ॥२४॥

*ब्रह्मत्वादपि देवत्वादिन्द्रत्वादमरादपि ।
अमृतात्सिद्धिलाभाच्च हरिदास्यं सुदुर्लभम्* ॥२५॥

*निजाङ्गमपि या गोप्यो ममेति समुपासते ।

मदन्यं ता न जानन्ति नाहं ताभ्यो मनागपि* ॥२६॥
इत्यादौ च महोत्कर्षो दासकान्ताख्यभावयोः ।
दर्शितस्ताविह ततो नाम्ना निरदिशन्मुनिः ॥ २७ ॥

ब्रह्मत्व इन्द्रत्वादि से हरिदास्य सुदुर्लभ है। यहां दासभाव का और अपने अङ्गों को भी भगवान के समझने वाली गोपियों से बढ़कर कोई नहीं, यहां कान्ता भाव का उत्कर्ष बताया। उनका यहां सूत्र में निर्देश है ॥२५-२७॥

सख्यवात्सल्यभावादिरसाधारण इत्यतः ।
नात्र देवर्षिणा प्रोक्तो यथास्थानं तु वक्ष्यते ॥२८॥

साख्य वात्सल्यादि भाव अर्जुन यशोदा आदि के लिए असाधारण है। वह सर्वसाधारण न होने से यहां नहीं कहा। यथा स्थान तो उसका भी वर्णन होगा। ॥२८॥

प्रेमोत्कर्षः प्रसिद्धेषु नैव भावान्तरेष्वतः ।
तान्यप्यत्र न चोक्तानि परलक्ष्यविवक्षया ॥२९॥

शान्तभाव, पूजकभावादि प्रसिद्ध अन्य भावों में प्रेम का उत्कर्ष नहीं है। अतः परमलक्ष्य की विवक्षा होने से उन्हें भी नहीं। कहा ॥२९॥

परे तु लोकसामान्यभक्तिं देवर्षिरब्रवीत् ।
दास्यभावो भवेत् पुंसां कान्ताभावः स च स्त्रियाम् ॥३०॥
दास्यवात्सल्यभावौ द्वावसाधारणरूपिणौ ।
पार्थनन्दयशोदादेरेव न त्वखिलस्य तौ ॥ ३१ ॥
तत्कथाश्रवणाद्युत्थवात्सल्यादिरसान्वितौ ।
दास्यकान्ताख्यभावौ हि पुष्यतोऽपरदेहिनाम् ॥३२॥

शान्ते तु प्रेमभूयस्त्वं न लोकैः स्वनुभूयते।
अतश्च न तमप्याहेत्याकूतं व्याचचक्षिरे ॥ ३३ ॥

अन्य मनीषी यहां व्याख्या करते हैं—यहा सर्वलोक साधारण भक्त का कथन है। पुरुषों में दास्य भाव तथा स्त्रियों में भगवान के प्रति कान्ता भाव सामान्यरूपेण संभव है। सख्य तथा वात्सल्य अर्जुनादि तथा यशोदादि के लिए असाधारण है। उनकी कथा के श्रवणादि से अन्य लोगों में वे रस अवश्य होंगे। किन्तु उससे अपना दास्य या कान्ताभाव ही पुष्ट होंगे। शान्तभाव में प्रेम का महोत्कर्ष नहीं होता, अतः इन तीनों का कथन न कर केवल दास्य एवं सख्य का यहां नारदजी ने ग्रहण किया ॥३०–३३॥

अत्रैव भूमिकाः काश्चिद्वर्णयन्ति मनीषिणः।
उत्कर्षतारतम्येन परलक्ष्यविवक्षया ॥ ३४ ॥

उस पर लक्ष्य को ही स्पष्ट करने के लिए विद्वानों ने यहां उत्कर्ष तारतम्य से कई भूमिकायें बतायी हैं ॥३४॥

प्रथमा गुणलीलादिश्रवणस्मरणादिषु।
परमानन्दसंप्राप्तिरितरत्र तथारुचिः ॥ ३५ ॥
यदा भगवतैव स्वसम्बन्धो भाति वास्तवः।
त्वमेव माता पित्रादिर्द्वितीया सा प्रकीर्त्तिता ॥३६॥

तत्सुखैकसुखित्वं च स्वसुखेष्वप्यनादरः।
नित्यसेवापरत्वं च तृतीया भूमिका मता ॥ ३७ ॥

रुष्टः कदापि तुष्टश्च साधिकारत्वमेव च ।
गोपबालवदास्था च चतुर्थी भूमिकोच्यते ॥ ३८ ॥
नास्ति स्वकामना काचिन्नित्यस्मरणमेव च ।
मातृवत्तनये यर्हि पञ्चमी सा तु भूमिका ॥ ३९ ॥
अन्याभिलाषिताशुन्यं गोपिकानामिवानिशम् ।
हृषीकेण हृषीकेशसेवनं षष्ठयुदाहृता ॥ ४० ॥
अकूपारोपमे प्रेम्णि राधा कृष्णश्च वीचिवत् ।
व्युत्तिष्ठेते विलीयेते सप्तमी सा च भूमिका ॥ ४१ ॥
भक्तश्च भजनीयश्च भजनं च तदाम्बुवत् ।
प्रेमैकरसमाभासभेदं तर्हि त्रिरूपकम् ॥ ४२ ॥
त्रिरूपभङ्गं जगदुरिममेव मनीषिणः ।
त्रैरूप्यभेदमाभासीकृत्य यत्तत्प्रवर्त्तते ॥ ४३ ॥

प्रथम भूमिका है भगवान की लीलादि श्रवण में आनन्द आना और अन्यत्र अरुचि होना। द्वितीय भूमिका में वस्तुतः माता-पिता आदि भगवान ही हैं। ऐसी संबन्धप्रतीति होती है। भगवत्सुख सुखित्व और भगवत्सेवापरायणता तृतीय भूमिका है। गोप बालों के समान कभी रुष्ट, कभी तुष्ट और भगवान पर अपना अधिकार प्रतीत हो तो चौथी भूमिका है। अपनी कोई कामना नहीं और नित्य स्मरण हो रहा है यह पांचवीं भूमिका है। वैसे ही अन्य कामना नहीं और सर्वेन्द्रियों से भगवान का ही नित्य सेवन हो रहा है यह छठी भूमिका है। सागर सदृश प्रेम में राधा और कृष्ण तरंग के समान उठते विलीन होते पाये जायँ तब सप्तमी

भूमिका है। यहां भक्त, भजनीय और भजन ये त्रिरूप भेद आभास मात्र हो जाता है, कारण वहां सर्व ही प्रेमैकरस-प्रेममय हो गया है। यही त्रिरूपभंग है क्योंकि तीन भेद आभास मात्र हो गया है ॥३५–४३॥

गौणी भक्तेरतिक्रान्तिमपरे प्रकृतत्वतः।
त्रिरूपभङ्गं स्वीचक्रुर्मुख्यभक्तौ स्थितिर्हि सा ॥ ४४ ॥

त्रिविध गौणी भक्ति से परे मुख्य भक्ति में पहुँचना त्रिरूप भंग है ऐसा भी मत है। ॥४४॥

अत्र सर्वमतेनापि ह्यखण्डैकरसात्मके।
विशुद्धे परमप्रेम्णि तात्पर्यं पर्यवस्यति ॥ ४५ ॥

सभी मतानुसार विशुद्ध अखण्डैकरस में ही तात्पर्य पर्यवसान है। ॥४५॥

किंच साधारणानां यत्प्राकृतं भेददर्शनम्।
तद्भङ्गोऽप्यत्र सर्वेषां मतेन प्रेम्णि निश्चितः ॥ ४६ ॥

परमप्रेम में सर्वमतानुसार प्राकृत भेद दर्शन भंग भी निश्चित है। ॥४६॥

तथा ह्यार्त्ताद्यतिक्रान्तं प्रस्तुत्य ज्ञानिनं हरिः।
वासुदेवः सर्वमिति भेददृष्टिमपाकरोत् ॥ ४७ ॥

आर्त्तादि से अतिक्रान्त भक्त का वासुदेवः सर्वं ऐसा भेदापोहन बताया है। ॥४७॥

प्रस्तोतुं निर्गुणां भक्तिं तामस्यादिषु भक्तिषु।
पृथग्भावं समाचख्यौ कपिलो मातरं प्रति ॥ ४८ ॥

निर्गुण भक्ति बताने के लिये कपिल महर्षि ने तामसी आदि भक्ति में भेद दर्शन बताया। ॥४८॥

भिन्नदृष्टिं ततः पश्चान्निनिन्द भगवान् स्वयम् ।
ततोऽभेदद्दगेव स्यान्निर्गुणायामिति स्थितम् ॥ ४९ ॥

बाद में भेददृष्टि की निन्दा की। अतः निर्गुणा भक्ति में अभेद दृष्टि ही होती है। ॥४९॥

*आत्मनश्च परस्यापि यः करोत्यन्तरोदरम् ।
तस्य भिन्नदृशो मृत्युर्विदधे भयमुल्बणम् ॥ ५० ॥
मनसैतानि भूतानि प्रणमेद् बहु मानयन् ।
ईश्वरो जीवकलया प्रविष्टो भगवानिति ॥ ५१ ॥

श्रीमद्भागवत के इन दो श्लोकों में भेदनिन्दापूर्वक अभेद दृष्टि का विधान है। ॥५० ५१॥

त्रिपुटीभङ्गमेवाहुर्भेदापोहं मनीषिणः ।
भिन्नव्याख्यास्वपि ततो ह्यर्थैक्यमुपलभ्यते ॥ ५२ ॥
तस्मादार्त्ताद्यतिक्रान्तिं नैर्गुण्यस्थितिमेव वा ।
प्रकृत्यातिक्रमं वापि त्रिपुटीभङ्गमेव वा ॥ ५३ ॥
त्रिरूपभङ्गमाधाय विततामिन्नदृक् पुमान् ।
प्रेमैव कुर्यादित्येतद् ब्रवीति भगवानृषिः ॥ ५४ ॥

भेदापोह भी त्रिपुटीभंग ही है। फलतः आर्त्तादिभावातिक्रमण नैर्गुण्यस्थिति, प्रकृत्यतिक्रम या त्रिपुटीभंग रूपी त्रिरूपभंग कर अभेद दृष्टि से प्रेम ही करें यही यहां नारदजी बतला रहे हैं। ॥५२–५४॥

ॐ

इति सुलभसाधनमार्गनिरूपणम् ।

ॐ

गौणीभक्तिसमाख्यानाद् गौणा भक्ता निरूपिताः ।
मुख्यानां वर्णनीयत्वाद् वर्ण्यन्तेऽवसरेऽधुना ॥ १ ॥
स तारयति लोकानित्युक्तं चावसरेऽधुना ।
समुपक्रमते स्पष्टीकर्त्तुं मुख्योक्तिपूर्वकम् ॥ २ ॥

गौणी भक्ति निरूपणोत्तर यथावसर अब मुख्य भक्ति का निरूपण करते हैं। और 'स तारयति लोकान्' इसका मुख्योक्तिपूर्वक स्पष्टीकरण करते हैं। ॥१-२॥

भक्ता एकान्तिनो मुख्याः ॥६७॥

एकान्ती भक्त मुख्य होते हैं। ॥६७॥

एकस्मिन् पर्यवसितिः शेषत्वेन विभाव्यते ।
सकलस्य निजस्यापि हरावेकान्त्यसौ मतः ॥ ३ ॥

स्वयं भी जगत् भी एक हरि के शेष के रूप में पर्यवसन्न हो तो वह एकान्ती है। ॥३॥

तदर्पिताखिलाचार इत्येवं प्राङ्निरूपितः ।
आचारवद्वस्तुनोऽपि संग्रहाय पुनर्वचः ॥ ४ ॥

निवेदितात्मलोकादिशब्देनापि पुरोदितः ।
साधनावस्थितस्यापि तत्सत्त्वात्पुनरुच्यते ॥ ५ ॥

अनूद्यते वा मुख्यत्वविधानाय पुरोदितः ।
तदर्पिताखिलाचारो लोकात्मादिनिवेद्यपि ॥ ६ ॥

दारागारादि सकलं शरीरादिकमेव च ।
भगवत्प्रीतये यस्याचाराश्चैकान्त्यसौ भवेत् ॥ ७ ॥

तदर्पिताखिलाचार पहले बताया, यहां वस्तु का भी अर्पण विशेष है। निवेदितात्मलोकादि पहले कहा वहां साधक साधारण है। यहां सिद्ध मात्र ग्रह्य है। अथवा उन सबका यहां संग्रह है। सर्वसमर्पक एकान्ती होता है। ॥४–७॥

सस्नुर्वासो दधुर्जक्षुरलंचक्रुरशेरत ।
मुकुन्दप्रीतये गोप्यो नित्यमेकान्तचेतसः ॥८॥

निजाङ्गमपि ता नित्यममन्वत हरेरिति ।
तथाविधा महात्मानो भक्ता एकान्तिनो मताः ॥९॥

स्नान, वस्त्रधारण, आभूषण, शयनादि सभी भगवत्प्रीति के लिये गोपियां करती थीं। अपने अंगों को भी हरि के समझती थी। इस प्रकार के महात्मा ही एकान्ती भक्त हैं ॥८-९॥

* सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
इत्युक्तैकशरण्याश्च भक्ता एकान्तिनो मताः ॥१०॥

दुस्त्यजं स्वजनं चार्यपथं च व्रजगोपिकाः ।
हित्वा मुकुन्दपदवीं भेजुः श्रुतिभिरीडिताम् ।। ११ ।।

"सर्वधर्मान् परित्यज्य" इस श्लोक में वर्णित शरणागत भी एकान्ती भक्त हैं। 'या दुरत्यजं स्वजनमार्यपथं च हित्वा' इत्यादि में यह स्पष्ट है । ।।१०-११।।

न हरेः पृथगन्योऽस्तीत्येकमात्रावसायिनः ।
हरेरन्यमपश्यन्तश्चोक्ता एकान्तिनो जनाः ॥ १२ ॥

हरि से अन्य किसी का अस्तित्व नहीं ऐसा समझने वाले भी एकान्ती हैं और हरि से अन्य को जो देखते ही नहीं वे भो एकान्ती हैं ।।१३।।

उत्तमा मध्यमाश्चैव प्राकृताश्च त्रिधा मता ।
भक्तास्तेषां लक्षणादि श्रीमद्भागवते स्थितम् ।।१३।।

उत्तम मध्यम और प्राकृत ऐसे तीन भक्त भागवत में बताये हैं ॥१ ॥

सर्वभूतेषु यः पश्येद्भगवद्भावमात्मनः ।
भूतानि भगवत्यात्मन्येष भागवतोत्तमः ॥ १४ ॥

ईश्वरे तदधीनेषु बालिशेषु द्विषत्सु च ।
प्रेममैत्रीकृपोपेक्षा यः करोति स मध्यमः ॥५॥

अर्चायामेव हरये पूजां यः श्रद्धयेहते ।
न तद्भक्तेषु चान्येषु स भक्तः प्रकृतःस्मृतः* ।।१६।।

सर्वत्र भगवद्भाव देखने वाला भक्त उत्तम है। ईश्वर, भक्त, अज्ञ और शत्रु में क्रमशः प्रेम, मैत्री, कृपा और उपेक्षा करने वाला मध्यम है. केवल मूर्त्तिपूजक प्राकृत है जो भक्तों में और अन्य में हरिदर्शन नहीं करता। ॥१४–१६॥

आरम्भः प्रकृतिस्तत्स्थः प्राकृतो भक्त उच्यते।
प्रेमाङ्कुरे मध्यमश्च पूर्णप्रेमणि चोत्तमः ॥ १७ ॥

प्रारंभिक भक्त प्राकृत होता है, प्रेमाकुंर में मध्यम और पूर्ण प्रेम में उत्तम होता है ॥१७॥

यस्य साक्षाद्धरिश्चित्तं विसृजेन्न कदाचन।
प्रेमरज्जुनिबद्धाङ्घ्रिः स वै भागवतोत्तमः ॥ १८ ॥
इत्यत्र पूर्णप्रेमत्वमुत्तमस्य निरूपितम्।
उतमोऽपि प्रशस्तोऽथ श्रेयान् श्रेष्ठ इति त्रिधा ॥ १९ ॥

"विसृजति हृदयं न यस्य साक्षात्" इत्यादि में उत्तम भक्त बताया है। वह तीन प्रकार का है। प्रशस्त, श्रेयान और श्रेष्ठ ॥१८–१९॥

खं वायुमग्निं सलिलं महीं ज्योतिर्द्रुमादिकान्।
सरित्समुद्रांश्च हरेर्देहमित्युक्त आदिमः ॥ २० ॥

"खं वायुमग्निं" इत्यादि में जगत् को मिथ्या देखने वाला प्रशस्त बताया। ॥२०॥

स्वप्नाभमस्तधिषणमसद्रूपं जगत्त्वयि।
मायात उद्यदपियत्पश्यतीत्यत्र मध्यमः ॥ २१ ॥

"तस्मादिदं जगदशेषमसत्" इत्यादि में जगत् को मिथ्या देखने वाला श्रेयान कहा है ॥२१॥

*प्रेमातिभरनिर्भिन्नपुलकाङ्गोऽतिनिर्वृतः।
आनन्दसंप्लवे लीनो नापश्यमुभयं मुने* ॥ २२ ॥

इत्यत्राभिहितः श्रेष्ठः सत्यं तु जगदादिमः।
मिथ्या द्वितीयो वीक्षेत तृतीयो नैव पश्यति ॥२३॥

'प्रेमातिभर' इत्यादि में तृतीय श्रेष्ठभक्त का निरूपण है। प्रशस्त भक्त जगत् को सत्य देखता है। श्रेयान भक्त मिथ्या देखता है। श्रेष्ठ भक्त जगत देखता ही नहीं है ॥२२-२३॥

अयमेकान्तिशब्देन मुनिनात्र विवक्षितः।
एकमात्रावलोकित्वादेकान्तित्वं व्यवस्थितम् ॥२४॥

एक भगवान को ही देखता है जगत को नहीं, वही एकान्ती भक्त है ॥२४॥

*न मय्येकान्तभक्तानां गुणदोषोद्भवा गुणाः।
साधूनां समचित्तानां बुद्धेः परमुपेयुषाम्* ॥ २५ ॥

अत्र बुद्धेः परमिति जगतोऽदर्शनं मतम्।
समे ब्रह्मणि चित्तं चेत्येकान्तप्रेमदर्शनम् ॥ २६ ॥

"न मय्येकान्तभक्तानां" इस श्लोक में बुद्धेः परं से जगत का अदर्शन और समचित से सम—ब्रह्म में चित्त कहकर एकान्त प्रेम की व्याख्या की है ॥२५-२६॥

*न किंचित्साधवो धीरा भक्त्या ह्येकान्तिनो मम।
गृह्णन्त्यपि मया दत्तं कैवल्यमपुनर्भवम्* ॥ २७ ॥

*एकान्तिनो हि भगवत्प्रपन्ना नैव किंचन ।
वाञ्छन्त्यर्थं त्वच्चरितकीर्त्तनानन्दसंप्लुताः* ॥२८॥

इत्यादौ सकलेच्छातो व्यावृत्त्यैकं हरिं परम् ।
प्रेष्ठं कामयमाना हि प्रोक्ता एकान्तिनो जनाः ॥२९॥

मोक्ष पर्यन्त किसी वस्तु की इच्छा न हो, केवल एक हरि की ही इच्छा हो वह एकान्ती भक्त का लक्षण है यह "न किंचित्साधवः" "एकान्तिनो यस्य न" इत्यादि श्लोकों से प्रतीत होता है ॥२७-२९॥

ॐ

———

ॐ

ननु मुख्यत्वगौणत्वे निरूप्येते कुतोऽत्र तु ।
न मुख्यत्वेन भक्तानां फलं किंचिद्विशिष्यते ॥ १ ॥

भक्तानां भगवत्प्राप्तिः सर्वेषामेव निश्चिता ।
अत्र ब्रूमः परेषां स्यादुद्धारो मुख्यभक्तितः ॥ २ ॥

मुख्य गौण भक्त विचार का क्या प्रयोजन ? भक्त जो भी हो भगवान को प्राप्त होता ही है। इस का समाधान यह है कि मुख्य भक्तों से दूसरों का भी उद्धार होता है। अतः यह विचार प्रस्तुत किया गया है ॥१-२॥

यद्वा लोकांस्तारयतीत्युक्ते विविदिषोत्थिता ।
हरौ विन्यस्तभारस्य प्रवृत्तिस्तारणे कथम् ॥ ३ ॥
अत्रोच्यते न भक्तानां प्रवृत्तिस्तारणे नृणाम् ।
किन्तु स्वभावतस्ते स्युर्जगत्तारणहेतवः ॥ ४ ॥

अथवा "लोकान् तारयति" में जिज्ञासा हुई कि सारा भार भगवान पर छोड़ने वाले की जगदुद्धार में कैसे प्रवृत्ति हो? उत्तर यह है कि वे कोई प्रवृत्ति नहीं करते, अपने आप स्वयं उद्धार कारण बन जाते हैं ॥३-४॥

कण्ठावरोधरोमाञ्चाश्रुभिः परस्परं लपमानाः पावयन्ति कुलानि पृथिवीं च ॥६८॥

कंठ रुद्ध हो रहा है, रोमाञ्च हो रहा है और प्रेमाश्रु बह रहा है; इस प्रकार भक्त परस्पर भगवद्वार्त्ता करते हुए कुलों को और पृथ्वी को पवित्र करते हैं ॥६८॥

कण्ठेत्याद्यनुभावानां सात्त्विकानां प्रकीर्त्तनम् ।
अष्टौ स्तम्भादयस्ते च प्रागस्माभिर्निरूपिताः ॥५॥

कण्ठावरोधादि सात्विक अनुभाव है। पहले आठ अनुभावों को हम ने बताया है ॥५॥

अष्टसु ह्यनुभावेषु त्रयाणामनुभाषणम् ।
तेषां सात्त्विकवैशेष्यमालोच्य कृतवानृषिः ॥ ६ ॥
प्रहृष्यद्रोमतानन्दसलिलोत्सङ्गिदृष्टिता ।
गन्धर्वपतिना द्वे तु पुष्पदन्तेन वर्णिते ॥ ७ ॥

आठ अनुभावों में अतिसात्विक तीन यहां दिखाये। गंधर्वराज पुष्पदन्त ने "मन: प्रत्यक्चित्ते" इस श्लोक में रोमांच और अश्रु दो ही बताये हैं ॥६-७॥

कण्ठावरोधनं नामकथाव्याहरणाश्रयम् ।
रोमाञ्चोऽन्तस्तदाश्चर्यरूपालोकनिबन्धनः ॥ ८ ॥
निरावरणतन्नामरूपालोकसुखोद्भवम् ।
भक्तानामनुभावीयमानन्दाश्रु निगद्यते ॥ ९ ॥

कंठावरोध नामोच्चारण से सम्बन्धित है। रोमांच आश्चर्य रूप दर्शन से सम्बन्धित है। और निरावरण नामरूपानुभावाश्रित आनन्दाश्रु माना जाता है। अतः नाम, रूप, उभयानावरणहेतु आनन्द इनसे सम्बन्धित होने से ये तीन ही मुख्य हैं ॥८-९॥

कारणं लक्षयेत् कार्यमेभिरेतत्प्रयोजकैः ।
भावैर्नामादिविषयैः पावयन्तीति योजना ॥ १० ॥

यहां कार्य से कारण का उपलक्षण है। कण्ठावरोधादिके प्रयोजक नामादिविषयक भावों के द्वारा कुलादि को पवित्र करते हैं ऐसी योजना है ॥१०॥

एवं भावसमायुक्ताः संलपन्ति परस्परम् ।
नामरूपादिकं तेन पावयन्तीति वास्तु सा ॥ ११ ॥

कण्ठावरोधादि प्रयोजक भावों से युक्त होकर परस्पर भगवन्नामरूपादि के बारे में वार्तालाप करते हुये पवित्र करते हैं ऐसी योजना भी हो सकती है ॥११॥

लपनं प्रकटाख्यानं नामरूपादिगोचरम् ।
अन्तर्बहिस्तन्मयत्वमेतेनादिध्वनन्मुनिः ॥ १२ ॥

सात्त्विक भाव अन्तर्विकारोत्पन्न है। और वार्त्तालाप भगवन्नामरूपविषयक वार्त्तालाप है। फलतः अन्दर और बाहर तन्मयता यहां ध्वनित होती है ॥१२॥

तदश्मसारं हृदयं नामधेयैर्हरेर्हि यत् ।
नो विकुर्याज्जलं नेत्रे हर्षो गात्ररुहेषु च ॥ १३ ॥
*कथं विना रोमहर्षं द्रवता चेतसा विना ।
विनानन्दाश्रुकलया शुद्ध्येद्भक्त्या विनाशयः * ॥१४॥
अत्र टीका कथं गम्या रोमहर्षादिकं विना ।
भक्तिर्भक्त्या विना शुद्ध्येदाशयः कथमञ्जसा ॥१५॥
एवं कण्ठावरोधादिगम्यैर्भावैरिहापि च ।
पावनीकरणाद्यं हि संवेद्यं तत्र तत्र च ॥ १६ ॥
वाग् गद्गदा द्रुतं चित्तं रवीति हसति क्वचित् ।
गायन् नृत्यंश्च मद्भक्तः पुनाति भुवनत्रयम् ॥१७॥

"तदश्मासारं" इत्यादि में अन्तर्भावसमुत्पन्न ही रोमहर्षादि बताया है। और "कथं विना रोमहर्ष" इस श्लोक की टीका में श्री श्रीधर स्वामी ने कहा है—रोम हर्षादि के बिना भक्ति कैसे मालूम हो, और भक्तिके बिना हृदय कैसे शुद्ध हो। "वाग् गद्गदा" इत्यादि श्लोकों में भी इसी रीति भावप्रयुक्त हो जगत् पवित्रीकरणादि समझना चाहिये ॥१३-१६॥

*त्रिःसप्तभिः पिता पूतः पितृभिः सह तेऽनघ ।
यत्साधोऽस्य गृहे जातो भवान् वै कुलपावनः* ॥१८॥

मेरे पिता का उद्धार हो इस प्रह्लादप्रार्थना पर नरसिंह

भगवान कहते हैं तुम्हारे जैसे भक्त के कारण इक्कीस पीढी पवित्र हो गयी है ॥१८॥

*यत्र यत्र हि मद्भक्ताः प्रशान्ताः समदर्शिनः।
साधवः समुदाचारास्ते पूयन्त्यपि कीकटाः* ॥१९॥

*यत्पादसंश्रयाः सूत मुनयः प्रशमायनाः।
सद्यः पुनन्त्युपस्पृष्टाः स्वर्धुन्यापोऽनुसेवया* ॥२०॥

कुलं पवित्रं जननी कृतार्था पावनी मही।
तेन प्रेमाम्बुधौ कृष्णे लीनं यस्य हि मानसम् ॥२१॥

सन्त भक्तों से कीकटवासी भी पवित्र होते हैं। बल्कि गंगाजी सेवन करने से धीरे-धीरे पवित्र करती हैं। भक्त से कुल पवित्र हुआ माता कृतार्थ हो गयी। पृथिवी पावन हुई ॥१९-२१॥

भक्तेरेव प्रभावोऽयं भक्तानां न पृथक् श्रमः।
निवेदितात्मनां तेषां स्वतन्त्रा न प्रवृत्तयः ॥ २२ ॥

तपस्विनां तपोयोगाद् भक्तानां भक्तियोगतः।
इयं हि धार्यते पृथ्वी ससोमारुणतारका ॥ २३ ॥

भक्ति का ही यह प्रभाव है। भक्त को कुछ करना नहीं पड़ता है। तपस्वियों के तप से और भक्तों की भक्ति से पृथिवी का धारण हो रहा है ॥२२-२३॥

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः।
स बुद्धिमान् स युक्तश्चेत्युक्तं भगवता स्वयम् ॥२४॥

न बन्धः कर्मणा तस्मादुक्ता कर्मण्यकर्मता।
नैष्कर्म्याद्धार्यते विश्वं ततोऽकर्मणि कर्मता ॥ २५ ॥

प्रवृत्तिरहितोऽप्येवं लोकांस्तारयितुं क्षमः ।
मुख्यास्ततो निगद्यन्त इति भावो महामुनेः ॥२६ ॥

भक्त के कर्म अकर्म होते हैं क्योंकि बन्धन हेतु नहीं है। अकर्म में कर्मता होती है विश्व का धारण होता है। अतः विना प्रवृत्ति भी लोकतारक होने से मुख्य हैं यह यहां भाव है ॥२४-२६॥

ॐ

ॐ

इत्थं स्वसत्तामात्रेण लोकतारणहेतुताम् ।
अभिधाय विशेषेण कर्मभिस्तत्त्वमुच्यते ॥ १ ॥

भक्त अपने अस्तित्त्व मात्र से लोकतारण करते हैं यह बता कर अब विशेष रूप से उस तत्व को समझाते हैं ॥१॥

तीर्थीकुर्वन्ति तीर्थानि सुकर्मी-कुर्वन्ति कर्माणि सच्छास्त्रीकुर्वन्ति शास्त्राणि ॥६९॥

तीर्थों को तीर्थ बनाते हैं कर्मों को सुकर्म बनाते हैं और शास्त्रों को सच्छास्त्र बनाते हैं ॥६९॥

भविष्यद्वृत्तितः प्रोक्तं तीर्थनीति न वस्तुतः ।
यतो ह्यभूततद्भावे प्रत्ययः च्विर्विधीयते ॥ २ ॥

अतीर्थ को तीर्थ बनाने पर ही तीर्थीकुर्वन्ति प्रयोग होता है। अतः तीर्थानि यह भविष्यवृत्ति से प्रयोग समझना चाहिये ॥२॥

भगवान् प्रकटो जातो भक्तानां यत्र भक्तितः ।
तद्धि तीर्थतया सर्वं प्रसिद्धं पुष्करादिकम् ॥ ३ ॥
न चैवं हरिणा तीर्थं जातं स्यादिति सांप्रतम् ।
भक्तं विना भगवतः प्राकट्यस्याप्यसंभवात् ॥ ४ ॥
*परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे* ॥ ५ ॥
किं च सर्वत्र भगवान् विद्यते व्यापकत्वतः ॥ ६ ॥
भक्ता यत्र तदेव स्यात्तीर्थमित्येव सांप्रतम् ॥ ६ ॥

जहां भक्तों को भगवान ने दर्शन दिया वही तो तीर्थ बने। भक्त के बिना हरि प्रकट नहीं होते। भक्तरक्षणादि के लिए ही भगवदवतार है। और भगवान व्यापक है। किन्तु तीर्थ सभी नहीं है। अतः भक्त से ही तीर्थ है ॥३-६॥

किंचानिर्वचनीयं हि प्रेमेति प्रागुदीरितम् ।
अकणस्य कणैर्भक्तप्रेम्णस्तीर्थानि जज्ञिरे ॥७॥
ते त्वद्यापि प्रवर्तन्ते कणाः प्रेम्णो महात्मनाम् ।
तत एव हरौ भक्तिर्जायते तीर्थसेवनात् ॥ ८ ॥

दूसरी बात प्रेम अनिर्वचनीय है, अतएव निरंश भी उस प्रेम के कणों से तीर्थ बने। आज भी भक्तों के प्रेमकण तीर्थों में हैं। अत एव तीर्थं सेवन से हरिभक्ति उत्पन्न होती है ॥७–८॥

अथवा पुष्कराद्याः स्यू रूढया तीर्थपदाभिधाः।
च्व्यन्ततीर्थपदं चात्र पवित्रार्थपरं मतम् ॥ ९ ॥

पापिनां संगमात्तीर्थं यदा हि स्यादपावनम्।
मेध्यीकुर्वन्ति तद् भक्ता इति शास्त्रेषु वर्णितम् ॥१०॥

अथवा तीर्थरूप से प्रसिद्ध पुष्करादि पापियों के नहाने से जब अपावन होते हैं तब सन्त भक्त स्वस्पर्श से पवित्र करते हैं। ऐसा सूत्रार्थ है ॥९–१०॥

*किं चाहं न भुवं यास्ये नरा मय्यामृजन्त्यघम्।
मृजामि तदघं कुत्रे* त्याह गङ्गा भगीरथम् ॥११॥

*साधवो न्यासिनः शान्ता ब्रह्मिष्ठा लोकपावनाः।
हरन्त्यघं तेऽङ्गसङ्गात्तेष्वास्ते ह्यघभिद्धरिः* ॥ १२ ॥

उक्त अर्थं को ही "किं चाहं" इत्यादि गङ्गाभगीरथ संवाद में देखिये ॥११–१२॥

अस्मिन् भागीरथे वाक्ये हेतुरैकान्तिकः कथम्।
द्वा सुपर्णाश्रुतेः सर्वप्राणिषु श्रीहरिस्थितेः ॥ १३ ॥

उच्यतेऽत्रापि भगवद्भक्तिरेव विवक्षिता।
पावनीकरणे हेतुरिति सर्वं समञ्जसम् ॥ १४ ॥

चूंकि भगवान सन्तों के हृदय में अतः वे तीर्थों को भी पवित्र करते हैं यह भगीरथोक्त हेतु कैसे संगत होगा? हरि तो सबके

हृदय में हैं। इसका उत्तर यही कि यहां भी भक्ति ही विवक्षित है ॥१३-१४॥

*भवद्विधा भागवतास्तीर्थभूताः स्वयं प्रभो।
तीर्थीकुर्वन्ति तीर्थानि स्वान्तस्थेन गदाभृता* ॥१५॥

इति यौधिष्ठिरोक्तावप्युक्तार्थो हि विवक्षितः।
प्राचेतसं च वचनमेतदेवानुमोदते ॥ १६ ॥

*यत्र नारायणः साक्षाद् भगवान् न्यासिनां गतिः।
संस्तूयते सत्कथासु मुक्तसङ्गैः पुनः पुनः ॥ १७ ॥

तेषां विचरतां पद्भ्यां तीर्थानां पावनेच्छया।*
साक्षाद् भक्त्या प्रकटित इत्यर्थोऽत्र प्रतीयते ॥१८॥

भवद्विधा इत्यादि युधिष्ठिरवचन में भी उक्तार्थ ही है। इसीका अनुमोदन 'यत्र नारायणः' इत्यादि प्राचेतसवचन में देखिये। साक्षात् का अर्थ है—भक्ति से जो प्रकट हो गया है ॥१५-१८॥

साधारणं निषिद्धं च सुकर्मेतरशब्दितम्।
भक्ताः सुकर्मीकुर्वन्ति द्वयं कर्म तथाविधम् ॥ १९ ॥

यत्करोषीतिवचनाज्जायन्ते भक्तिभूयसाम्।
ईश्वराराधनान्येव कर्माणि सकलान्यपि ॥ २० ॥

व्याधस्य पादुका कूर्चा गण्डूषाम्ब्वभिषेचनम्।
उच्छिष्टमांसोपहतिरप्यभूच्छम्भुतोषणम् ॥ २१ ॥

साधारण कर्म तथा निषिद्ध कर्म दोनों को भक्त सुकर्म बनाता है। व्याध ने जूते से झाड़ा, कुल्लापानी से अभिषेक कराया, उच्छिष्टमांस का भोग लगाया। उससे भी शंकर प्रसन्न हो गये थे ॥१९-२१॥

ननु भक्तकृतं कर्म सुकर्मैव न हीतरत्।
कथं ह्यभूतत‌द्भावे च्विरत्र घटतेतराम् ॥ २२ ॥

किं च प्रकरणं लोकतारणप्रतिपादकम्।
भक्तकर्मसुकर्मत्वे परेषां किं ततो भवेत् ॥ २३ ॥

न च दुष्कर्म जात्या यत्तत्सुकर्मीभवेन्नृणाम्।
भक्तेन तदनुष्ठाने सर्वेषामिति सांप्रतम् ॥ २४ ॥

व्याधाचरितगण्डूषाभिषेकादिर्भवन्मते ।
जात्या सुकर्म जायेत कुर्युर्वा भक्तिवर्जिताः ॥ २५ ॥

जहुरार्यपथं गोप्यो जात्या तच्च सुकर्म चेत्।
परेऽपि च तथा कुर्युस्ततः स्याच्छास्त्रविप्लवः ॥२६॥

अत्राहुरन्यविहितं हरिभक्तानुकम्पया ।
असत्कर्मापि सत्कर्मस्वरूपमुपजायते ॥ २७ ॥

अपि स्तैन्यं नृशंस्यं च जयदेवानुकम्पया ।
पतनं चापि दुष्टानामभूदुद्धारकारणम् ॥ २८ ॥

शङ्का :—भक्त का सभी कर्म सुकर्म ही होते हैं। उन्हें सुकर्म बनाने की जरूरत नहीं है। उस से लोकतारण का कोई सम्बन्ध भी नहीं है। भक्त ने जो कर्म किया वह दूसरे के लिए भी सुकर्म

बनेगा, ऐसा मानेंगे तो व्याध के समान दूसरे भी कुल्ले के पानी से अभिषेक करने लगेंगे। गोपियों ने आर्यपथ छोड़ा तो दूसरी भी छोड़ने लगेंगी और इस प्रकार शास्त्र विप्लव होगा।

समाधान यह है कि सारे असत्कर्म सुकर्म नहीं बनते। किन्तु भक्त की दया से असत्कर्म सुकर्म होगा। जैसे जयदेव की कृपा से चोरों की चोरी नृशंस कर्मादि सभी उद्धार का कारण बना ॥२२–२८॥

अथ वा नृत्यगीताद्यं रोदनादिकमेव च।
सुकर्म समभूद्वेदाऽविहितं चापि भूरिशः ॥ २९ ॥

असुकर्मेति चाम्नायाऽविहितत्वान्निगद्यते।
साधारणं तद्धि कर्म न निषिद्धमिहेष्यते ॥ ३० ॥

अथवा निषिद्ध एवम् साधारण दोनों कर्मों का यहाँ ग्रहण नहीं है। किं तु नृत्य, गीत रोदनादि साधारण कर्म जो वेदप्रतिपादित नहीं हैं वे भी सुकर्म हो जाते हैं ऐसा अर्थ समझना चाहिये २९–३०॥

न च शिष्टैराचरणान्मूलं तस्यानुमीयताम्।
मूलानुमानवैयर्थ्याद् भावमात्रोत्थकर्मसु ॥ ३१ ॥

यदि कहें कि शिष्टाचरित होने से नृत्य रोदनादि की मूलश्रुति की कल्पना करेंगे, तो ठीक नहीं, कारण भावजन्य नृत्यरोदनादि का मूलश्रुत्यनुमान व्यर्थ है ॥३१॥

दृष्टवेदैः स्मृतार्थैर्यत् क्रियेत धर्मबुद्धितः।
शिष्टाचारोऽस्मदादीनां स हि मूलप्रमापकः ॥३२॥

यथार्थतः वही शिष्टाचार मूलवेदानुमापक है जो कि मूलवेद को देखकर तदर्थस्मृतिपूर्वक धर्मबुद्धि से अनुष्ठित होता है।

अर्थात् किसी महर्षि ने मूलवेद को देखा और धर्मबुद्धि से अनुष्ठान करने लगे। तब तदनुयायी भी वैसे करने लगे। आचरण-परम्परा वैसी ही चली आ रही है। परन्तु मूलश्रुति अनुपलब्ध हो गयी। ऐसी स्थिति में शिष्टाचार से मूलानुमान होता है ॥३२॥

अश्रुतश्रुतयोऽदृष्टशिष्टाचारपरम्पराः ।
भक्ता रुदन्ति नृत्यन्ति तत्र का मूलकल्पना ॥ ३३ ॥

वेदाध्ययन न किये हुये शिष्टाचरण न देखे हुये भक्त भी गाते हैं, रोते हैं, यहां कौन सी मूलवेदकल्पना है ॥३३॥

इत्थं च हरिसांनिध्ये नृत्यगीतादिकाः क्रियाः ।
अजातभक्तिभिश्चैव कृताः पुण्यप्रदायिकाः ॥ ३४ ॥

यद्यपि भक्तकृत नृत्यादि तो वैसे भी सुकर्म है। तथापि हरि संनिधि में अनुत्पन्नभक्ति वालों का नृत्यगीतादि भी पुण्यदायी होता है ॥३४॥

ननु भागवतस्मृत्यामन्यत्रापि निरूपितम् ।
नृत्यगीतादिकं तस्मान्मूलं तस्यानुमीयते ॥ ३५ ॥
अत्रोच्यते मूलमत्र भक्तकर्मैव न श्रुतिः ।
अनपेक्षितवेदैस्तत्स्वातन्त्र्याचरणेक्षणात् ॥ ३६ ॥
नारदोक्तिप्रमाणत्वाद्भक्तकर्मसुकर्मता ।
सिद्धेत्यलं मूलवेदकल्पनाधितितिक्षया ॥ ३७ ॥
यदि वा कल्प्यतां मूलं भक्ताचरितमाचरेत् ।
इत्येवास्तु निषिद्धं तु बाधकेन प्रबाध्यताम् ॥ ३८ ॥

श्रीमद्भागवत में नृत्यगीतादि का वर्णन है, अतः उस का मूलवेद अवश्य होगा। इसका उत्तर यह है कि मूल है, पर वह भक्ताचरण ही है। नृत्यरोदनादि भक्तों का स्वयं प्रमाण है। शास्त्रसापेक्ष नहीं है। नारदवचन प्रमाण से ही भक्त कर्म सुकर्म सिद्ध है। अतः मूलवेदकल्पना अयुक्त है। यदि मूलवेदकल्पना करनी ही है तो 'भक्ताचरणों को करों' ऐसा ही मूल होगा। निषिद्धकर्म की व्यावृत्ति बाधक श्रुति से ही हो जायगी ॥३७-३८॥

शास्त्राण्यपि च सच्छास्त्रीकुर्वन्ति भगवज्जनाः ।
अत्रापि पूर्ववद् व्याख्या विधेया सूक्ष्मबुद्धिभिः ॥ ३९॥
नापभ्रंशितवैश्रुत्या लोकभाषादि वार्यते ।
तथापि भक्तसंस्पर्शात्सच्छास्त्रं तत्कृतं भवेत् ॥४०॥
तुलसीरामचरितमानसादीनि हि स्फुटम् ।
अपभ्रंशितवाक्याण्यप्यगमन् पावनात्मताम् ॥ ४१ ॥

सच्छास्त्रीकुर्वन्ति में भी पूर्ववत् व्याख्या है। "नापभ्रंशितवै" श्रुति है। फिर भी तुलसीकृतरामायणादि पवित्र हो गये ॥३९-४१॥

प्रतिश्लोकमबद्धापि सा वाक् स्यादघहारिणी ।
यस्यां शृण्वन्ति गायन्ति हरिनामानि साधवः ॥४२॥
अपि चित्रपदं वाक्यं भगवन्नामवर्जितम् ।
अहंसं वायसं तीर्थमिव दूरात्परित्यजेत् ॥ ४३ ॥

'तद्वाग्विसर्गो जनताघविप्लवः" "न यद्वचश्चित्रपदं" इत्यादि भागवत श्लोक अन्वय और व्यतिरेक उदाहरण है ॥४२-४३॥

नन्तु सर्वामिमामुक्तिं गुणवादं विचक्ष्महे ।
अपभ्रंशितवाक्येभ्यो यज्ञे वैगुण्यनिश्चयात् ॥ ४४ ॥

अन्यथा वेदमीमांसाप्रतिरोधः प्रसज्यते ।
विरोधे ह्यनपेक्षा स्यात्स्मृतिर्न तु पुनः श्रुतिः ॥ ४५ ॥

सत्यं विगुणतापत्तिरपभ्रंशादितो भवेत् ।
नामानि तु परं विष्णोः प्रायश्चित्तं भवेदिति ॥ ४६ ॥

ये सभी अर्थवाद है अपभ्रंश प्रयोग करेंगे तो यज्ञ में वैगुण्य निश्चित है। अन्यथा वेदमीमांसाविरोध होगा। श्रुति और स्मृति में विरोध होने पर स्मृति ही बाधित होती है। इसका समाधान यह है कि अपभ्रंश से यज्ञ में वैगुण्य होगा। किन्तु उस वैगुण्य का प्रायश्चित्त भगवन्नाम से हो जायेगा ॥४४-४६॥

प्रक्षालनाद्धि पङ्कस्य दूरादस्पर्शनं वरम् ।
इति न्यायस्तदापन्न इति चेन्न पृथक्फलात् ॥ ४७ ॥

प्रायश्चित्तात्मकं विष्णोर्नाम पापानि संदहेत् ।
सर्वकामान् प्रदत्ते च नाममाहात्म्यमीदृशम् ॥ ४८ ॥

तब कीचड़ लगाकर धोने का मतलब क्या हुआ ? इसका उत्तर यह है कि नाम अपभ्रंश दोष को मिटाकर अनन्त पुण्य भी प्रदान करेगा ॥४७-४८॥

अथ वा कर्मिणः कामं वैगुण्यं मन्यतां क्रतौ ।
न हि कर्मजडान् किंचिद्वयं बोधयितुं क्षमाः ॥४९॥

भक्तैर्नूनमधीतानि दृष्टस्पृष्टोदितानि च।
शास्त्राणि प्रयतानि स्युरिति सवत्र लौकिकम् ॥५०॥

अत एव महात्मानो दर्शयन्ति महीयसः,
स्वान् ग्रन्थान् तत्प्रचारादि लोके तत्फलमीक्ष्यते ॥५१॥
रामायणं दर्शितवान् तुलसी मधुसूदनम्।
गौराङ्गः श्रीधरीं टीकां प्रशशंस मुहुर्मुहुः ॥५२॥

अथवा इन कर्मजड़ों के साथ बेकार शास्त्रार्थ न करें। भक्त के देखने स्पर्श करने आदि से ग्रंथ पवित्र होते हैं। इसलिए महात्मा लोग अपना ग्रंथ महापुरुषों को दिखते हैं। गोस्वामी तुलसीदास ने रामायण स्वामी मधुसूदन सरस्वती को बताया। गौराङ्गमहाप्रभु ने श्रीधरी टीका की बड़ी प्रशंसा की। अच्छा प्रचारादि इसका फल प्रत्यक्ष सिद्ध है ॥४९-५२॥

ॐ

ॐ

पावयन्ति कुलादीनीत्युक्तसूत्रद्वये मुनिः।
स्पष्टतः कर्त्तृनिर्देशं कुरुते हेतुगर्भितम् ॥१॥

दो सूत्रों में बतायी कुलपावनादि क्रिया में कर्त्ता का निर्देश यहां करते हैं ॥१॥

तन्मया: ॥७०॥

भक्त भगवन्मय होते हैं ॥७०॥

यथा घृतमयापूपस्पर्शात् स्पर्शो घृतस्य च।
तथा हरिमयस्पर्शाद्धरिस्पर्शोऽपि जायते ॥२॥

घृतमय पूड़ा छूने पर घी का स्पर्श होता हैं वैसे हरिमय के स्पर्श से हरि का भी स्पर्श समझना चाहिये ॥ २ ॥

*** यच्चित्तस्तन्मयो मर्त्यो गुह्यमेतत्सनातनम् *।**
*** श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः * ॥३॥**

इत्यादिवचनात्कृष्णचित्तः कृष्णमयो भवेत्।
कृष्णश्रद्धः कृष्ण एव भवेदिति च गम्यते ॥४॥

भगवान में चित्त लगाने वाला भगवन्मय होता है। भगवान में ही श्रद्धा रखनेवाला भगवत्स्वरूप ही होता है, यह शास्त्र-वचन है ॥३-४॥

प्राक् तस्मिंस्तज्जने भेदाभावादित्येवमीरितम्।
गङ्गामयं भवद्रथ्योदकं गङ्गैव तल्लयम् ॥५॥

"तस्मिंस्तज्जेन भेदाभवात्" ऐसा पहले कहा है। नाले का पानी भी गङ्गास्पर्श से गङ्गामय होता है, गङ्गा में लीन होने पर गङ्गा ही हो जाता है ॥५॥

***ता मन्मनस्का मत्प्राणा मदर्थे त्यक्तदैहिकाः।**
मामेव दयितं प्रेष्ठमात्मानं मनसा गताः *॥६॥

***वन्दे नन्दव्रजस्त्रीणां पादरेणुमभीक्ष्णशः।**
यासां हरिकथोद्गीतं पुनाति भुवनत्रयम् *॥७॥

इत्येवं तन्मयत्वं च जगत्पावनतापि च ।
भक्तानामिह सूत्रोक्तं दर्शितं परमर्षिणा ॥८॥

"ता मन्मनस्का" में तन्मयता और "वन्दे" इत्यादि में जगत्पावनता दिखाई है ॥६–८॥

भक्तानां हरिरूपत्वात्तत्स्पर्शः स्पर्श ईशितुः ।
तद्वाक्यं भगवद्वाक्यं तत्क्रिया भगवत्क्रिया ॥९॥

तस्मान्निरुक्तमखिलं माहात्म्यं भजतां सताम् ।
उपपन्नमिति प्राहुरपरे तत्त्ववेदिनः ॥१०॥

तन्मय का अभेद अर्थ होने से हेतूपपत्ति अन्य विद्वान् मानते हैं ॥९-१०॥

※ तेषु नित्यं महाभाग महाभागेषु मत्कथाः ।
संभवन्ति हि ता नृणां जुषतां प्रपुनन्त्यघम् ※॥११॥
इत्युक्तेस्तन्मया नित्यं कुर्युर्भागवतीं कथाम् ।
तया पुनन्ति ते लोकानित्युपापादयन् परे ॥१२॥

भक्त भगवत्कथा करते ही हैं अतः लोक पावन होते हैं, यह मतान्तर है ॥११–१२॥

स्पर्शादेवर्ष्यशृङ्गादेः कथामवदतोऽपि च ।
देशपावनतादृष्टेः प्रागुक्तं युक्तमित्यपि ॥१३॥

ऋष्यशृङ्ग के आगमन मात्र से वर्षा हुई। कथा आदि नहीं की। अतः पूर्वोक्तार्थ ही अधिक उचित है यह भी मान्यता है ॥१३॥

ॐ

———

ॐ

दोषपावनहेतुत्वाल्लोकतारकता स्थिता ।
अधुनानन्दहेतुत्वादपि सेति निगद्यते ॥१॥

पावन करते हैं अतः लोकतारक हैं। और आनन्ददायी होने से भी; यह आगे कहेंगे ॥१॥

मुख्यताकारणं किं वा महीयस्त्वमुदीर्यते ।
पावनत्वप्रयोक्तृत्वादानन्दोद्भावनादपि ॥२॥

अथवा मुख्यता प्रयोजक महत्ता में ही उक्त और वक्ष्यमाण हेतु है ॥२॥

मोदन्ते पितरो नृत्यन्ति देवताः सनाथा चेयं पृथिवी भवति ॥७१॥

पितर आनन्दित होते हैं देवता नृत्य करने लगते हैं, पृथ्वी सनाथ हो जाती है ॥७१॥

* आस्फोटयन्ति पितरो नृत्यन्ति च पितामहाः ।
मद्वंशे वैष्णवो जातः स नस्त्राता भविष्यति * ॥३॥

* यनार्चितो हारस्तिने तर्पितानि जगन्त्यपि ।
रज्यन्ति जन्तवस्तत्र जङ्गमाः स्थावरा अपि * ॥४॥

इति पाद्मादिवचनाद् वर्तमानसुखोद्भवात् ।
भविष्यस्त्राणहेतुत्वात् मोदादिरुपपद्यते ॥५॥

"मोदन्ते पितरः" इत्यादि में आस्फोटयन्ति पितरः इत्यादि प्रमाण वचन द्रष्टव्य है ॥३-५॥

❀ यदग्रे चानुबन्धे च सुखं मोहनमात्मनः ।
निद्रालस्यप्रमादोत्थं तत्तामसमुदाहृतम् ॥६॥
विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम् ।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम् ॥७॥
यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम् ।
तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम् ❀ ॥८॥
यदग्रे चानुबन्धे च सुखं भक्तिसमुद्भवम् ।
तत्सुखं निर्गुणं प्रोक्तं प्रेमैकरसलक्षणम् ॥९॥
तादृशं च सुखं दृष्ट्वा पुत्राणां पितरः परम् ।
मोदन्ते नितरां पुत्रसुखेन सुखिनोऽनिशम् ॥१०॥
तामसे राजसे चैव सुखे बद्धान्निजात्मजान् ।
रुदन्ति वीक्ष्य पितरो दुःखाब्धिपतनोन्मुखान् ॥११॥

जो सुख अभी और आगे भी मोह हेतु है वह तामस है। अभी अच्छा किन्तु परिणाम दुःखद हो तो राजस, अभी दुःखद किन्तु परिणाम सुखद हो तो सात्त्विक और अभी और परिणाम दोनों अमृतमय हो तो निर्गुण प्रेममय होता है। ऐसा सुख देखकर पितरों को भी खुशी होती है। और राजस तामस में फँसों को देख कर पितर अफसोस करते रहते हैं ॥६-११॥

किं च भक्तं स्मरन् विष्णुस्तत्पितॄनपि संस्मरेत् ।
ततश्च परमो मोदः पितॄणामुपजायते ॥१२॥

भगवान भक्त के साथ उनके पितरों का भी स्मरण करते हैं। और भगवत्स्मरणजन्य सुख सर्वोत्कृष्ट होने से पितर अत्यन्त आनन्दित होते हैं ॥१२-१३॥

सूक्ष्मः पितॄणां भोगस्तु संकल्पैकनिबन्धनः ।
विष्णुसंकल्पजस्तत्र सर्वोत्कृष्ट इति स्थितिः ॥१३॥

पितॄणां चात्मनश्चापि लोकानां चापि सङ्गिनाम् ।
उद्धारकोऽयमिति च मोदन्ते पितरो भृशम् ॥१४॥

यह सर्वोद्धारक है ऐसा समझकर भी पितर आनन्दित होते हैं ॥१४॥

*परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे* ॥१५॥

इत्युक्तत्वादार्त्तरक्षाकृतेऽवतरणादपि ।
नङ्क्ष्यन्ति वैरिणोऽस्माकमिति नृत्यन्ति देवताः ॥१६॥

भक्तों से हरि का अवतार होगा, असुर नष्ट होंगे । इस लिए भी देवता नाचने लगते हैं ॥१५-१६॥

अवतीर्णश्च भगवान् यज्ञदानादिलक्षणम् ।
धर्मं रक्षिष्यति विभुर्यज्ञात्तुष्यन्ति देवताः ॥१७॥

भगवान अवतीर्ण होकर यज्ञरक्षा करते हैं, अतोऽपि देवता खुश होते हैं ॥१७॥

अप्रियं खलु देवानां नृणां ब्रह्मात्मभावनम् ।
विघ्नन्ति देवतास्तत्र ह्यूर्ध्वमेष गमिष्यति ॥१८॥

अकिंचनं पुनर्भक्तं वीक्ष्य विश्वस्तचेतसः ।
हितकार्ययमस्माकमिति नृत्यन्ति देवताः ॥१९॥

ब्रह्मज्ञानी हमसे आगे जायेगा, सोचकर देवता विघ्न डालते हैं भक्त अकिंचन होता है, अतः हितकारी समझकर वे नाचते हैं ॥१८-१९॥

प्रेम प्रवर्धमानं हि तस्मिन् संक्रमते क्रमात् ।
तत्सम्बन्धिनि लोकेऽस्मिन्देवमर्त्यादिलक्षणे ॥२०॥

प्रेम्णा तेन प्रतुष्यन्ति देवता दिव्यचक्षुषः ।
नृत्यन्ति परितुष्ट्या ताः प्रेमसंमग्नमानसाः ॥२१॥

प्रिय विषयक प्रेम प्रिय संबन्धी में भी फैलता है। हरि सम्बन्धी जगत् में प्रेम होने पर देवता में भी प्रेम हो जाता है, अतोऽपि देवता प्रेम से नाचने लगते हैं ॥२०-२१॥

इत्थं च पृथिवी भक्तैः सनाथा सेव सा भवेत् ।
अवतीर्णो हरिः पादौ निधास्यति भुजान्तरे ॥२२॥

*भूमिर्दृप्तनरव्याजदैत्यानीकशतायुतैः ।
आक्रान्ता भूरिभारेण* दुःखितानाथवद्भवेत् ॥२३॥

आविर्भावे च भक्तानामाश्वस्तहृदया मही ।
सनाथा मन्यते देवी स्वात्मानं विगतज्वरा ॥२४॥

भक्त के कारण हरि अवतार लेंगे। इसी आशा से अपने पति हरि के आगमन सोच कर पृथिवी अपने को सनाथा समझने लगती है ॥२२-२४॥

किं च विष्णुर्भक्तहृत्स्थः किं चासौ भगवन्मयः ।
किं चेशभक्तयोरैक्यं सनाथा तेन मेदिनी ॥२५॥

दूसरी बात, भक्त हृदय में हरि तो है ही, तीसरी बात भक्त हरिमय होता है, चौथी बात भक्त और हरि में भेद नहीं है। अतोऽपि पृथिवी सनाथा होती है ॥२५॥

*नाहं वसामि वैकुण्ठे योगिनां हृदये न च।
मद्भक्ता यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठामि नारद* ॥२६॥

तिष्ठामीत्यत एवेयं मही नाथयुता भवेत्।
वैकुण्ठस्थे हरौ सेयमनाथा निष्प्रभाऽवनी ॥२७॥

मैं योगियों के हृदय में या वैकुण्ठ में नहीं रहता, जहां मेरे भक्त गाते हैं वहीं रहता हूं, तब पृथिवी सनाथ क्यों नहीं होगी? ॥२६-२७॥

ॐ

———

ॐ

अथामृतस्वरूपायां भक्तावधिकरोति कः।
कर्मवज्जातिभेदादि भक्तावप्यस्ति वा न वा ॥१॥

ब्राह्मणादिर्यजेद्यज्ञं वेदविद्यजते द्विजः।
नाधिकारी किलान्धादिरपत्नीकोऽकुलीनकः ॥२॥

वित्तं मे स्यात्ततः कर्म कुर्वीयेति श्रुतत्वतः।
प्रायश्चित्तविधानाच्च साधिकारे धनक्रिये ॥३॥

एवमाश्रमभेदादिस्तत्तत्कर्मसु कारणम्।
तदेतत् सकलं भक्तौ कर्मवद्विद्यते न वा ॥४॥

कर्म करने के लिए ब्रह्मणादि जाति, वेदाध्ययन, अव्यङ्गता, सपत्नीकत्व, अव्रात्यकुलजत्व, धन, पापाभावादि अधिकारि-विशेषण हैं। आश्रमभेद भी कर्मभेद कारण है। ये सब प्रेम भक्ति में भी है या नहीं ? ॥१-४

न्यासरूपे निरोधे च ब्राह्मणः प्रव्रजेद् गृहात् ।
इति श्रुतेरुक्तभेदः कारणं विद्यते न वा ॥५॥

भक्ति संन्यास में अन्यसंन्यासवत् ब्राह्मण को ही अधिकार है, या अन्य को भी ? ॥५॥

पूजादौ लक्षणे चैवोपासनादिवदेव हि ।
केषांचिदधिकारो वा सर्वेषां वा मनीषिणाम् ॥६॥

उपासना में अधिकार का विचार है। वैसे पूजादि भक्तिलक्षण में है या नहीं ? ॥६॥

स्त्रीशूद्रौ वेदशास्त्रादि नाधीयातामिति स्मृतेः ।
कथादावधिकारश्च भेदयुक्तोऽथ वान्यथा ॥७॥

स्त्री शूद्र वेद नहीं पढ़ सकते। यह नियम हरि कथा में भी है क्या ? ॥७॥

महत्सङ्गो हि कर्त्तव्यो महान्तस्तत्र के खलु ।
जात्यादितः किमुत्कर्षापकर्षौ तेष्वपि स्थितौ ॥८॥

महत्संग करने को बताया। महान कौन ? उनमें ब्राह्मण श्रेष्ठ है क्या ? ॥८॥

एकान्तिषु च भक्तेषु जगत्पावनकारिषु ।
मुख्यत्वे तारतम्यं च जात्यादिवशतोऽस्ति किम् ॥९॥

एकान्ती मुख्य भक्तों में अधिक मुख्य उत्तम जातिवाला इत्यादि भेद है क्या ? ॥९॥

किं च कर्मिषु जात्यादिप्रयुक्ता भेदभावना ।

दृष्टा, भक्तेष्वपि तथा भावना विद्यते न वा ॥१०॥

दूसरी बात, भक्तों में छुआछूत आदि भेद भावना है या नहीं ? ॥१०॥

कि चास्माभिर्बालकल्पैर्भक्तिमार्गानुयायिभिः ।

जात्यादिभेदभावोऽयं हेयो वा ग्राह्य एव वा ॥११॥

और भक्ति मार्ग में बालक सदृश हम जात्यादि भेद भाव रखें या नहीं ? ॥११॥

नास्ति तेषु जातिविद्यारूपकुलधन-क्रियादिभेदः ॥७२॥

भक्तों में जाति, विद्या, रूप, कुल, धन और क्रियादि प्रयुक्त भेद नहीं है ॥७२॥

विदुरादेर्हि का जातिः का विद्या गजराजगा ।

कुब्जायाः किमु रूपं च विभीषणकुलं च किं ॥१२॥

धनं सुदाम्नः किं नाम व्याधस्याचरणं च किम् ।

सर्वेऽप्याधिकृता भक्तौ भक्त्या प्राप्ताश्च ते हरिम् ॥१३॥

विदुर की जाति, गजेन्द्र की विद्या, कुब्जा का रूप, विभीषण का कुल, सुदामा का धन और व्याध का आचरण क्या था ? पर सभी भक्त भी हुए और हरि को भी प्राप्त हुए ॥१२-१३॥

*मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ॥१४॥

विप्राद् मुकुन्दविमुखाद् वरिष्ठं श्वपचं परम्।
मन्ये तदर्पितमनो–वाक्कायं कुलपावनम् ॥१५॥

अहो गरीयान् श्वपचो जिह्वाग्रे यस्य नाम ते।
तेपुश्चाजुहवुः सस्नुरनूचुर्नामजापिनः ॥१६॥

सुग्रीवो हनुमानृक्षो गजो गृध्रो वणिक्पथः।
व्याधः कुब्जा व्रज गोप्यो यज्ञपत्न्यस्तथापरे ॥१७॥

*ते नाधीतश्रुतिगणा नोपासितमहत्तमाः।
अव्रतातप्ततपसो मत्सङ्गान्मामुपागताः ॥१८॥

केवलेन हि भावेन गोप्यो गावो नगा मृगाः।
येऽन्ये मूढधियो नागाः सिद्धा मामीयुरञ्जसा* ॥१९॥

*धिग्जन्म नस्त्रिवृद्विद्यां धिग्व्रतं धिग्बहुज्ञताम्।
धिक्कुलं धिक्क्रियादाक्ष्यं विमुखा ये त्वधोक्षजे ॥२०॥

नासां द्विजातिसंस्कारो न निवासो गुरावपि।
न तपो नात्ममीमांसा न शौचं न क्रियाः शुभाः ॥२१॥

अथापि ह्युत्तमश्लोके कृष्णे योगेश्वरेश्वरे।
भक्तिर्दृढा न चास्माकं संस्कारादिमतामपि ॥२२॥

अहो वयं धन्यतमा येषां नस्तादृशीः स्त्रियः ।
भक्त्या यासां मतिर्जाता अस्माकं निश्चला हरौ*॥२३॥

*जन्मैश्वर्यश्रुतश्रीभिरेधमानमदः पुमान् ।
नैवार्हत्यभिधातुं वै त्वामकिंचनगोचरम्* ॥२४॥

नालं द्विजत्वं देवत्वमृषित्वं वासुरात्मजाः ।
प्रीणनाय मुकुन्दस्य न वृतं न बहुज्ञता ॥२५॥

न दानं न तपो नेज्या न शौचं न व्रतानि च ।
प्रीयतेऽमलया भक्त्या हरिरन्यद्विडम्बनम्* ॥२६॥

*नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन च चेज्यया ।
शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा* ॥२७॥

इत्यादिवचनव्रातैर्जात्यादिनिबन्धनः ।
अधिकारादिरित्येतद् दर्शितं प्रागपीति दिक् ॥२८॥

मां हि पार्थ इत्यादि श्लोकों की प्रायः व्याख्या पहले हो चुकी है ॥१४-२८॥

*यत्र यल्लक्षणं प्रोक्तं पुंसो वर्णाभिव्यञ्जकम् ।
यदन्यपि दृश्यते तत्रात्तेनैव विनिर्दिशेत् * ॥२९॥

इत्येवं जातिभेदादेरभावं नारदा जगौ ।
भक्तानां पात्रमपि च समर्थयति तद्वचः ॥३०॥

*न शूद्रा भगवद्भक्तास्ते तु भागवता नराः ।
सर्ववर्णेषु शूद्रास्ते ये न भक्ता जनार्दने* ॥३१॥

मुख्यत्वेऽपि न जात्यादिः कारणं भजतां भवेत् ।
तदप्यन्यत्र कथितं शास्त्रसिद्धान्तवेदिभिः ॥३२॥

*स्मृतः संभावितो वापि पूजितो वा द्विजोत्तम ।
पुनाति भगवद्भक्तश्चाण्डालोऽपि यदृच्छया* ॥३३॥

*शूद्रं वा भगवद्भक्तं निषादं श्वपचं तथा ।
वीक्षेत जातिसामान्यात्स याति नरकं ध्रुवम्* ॥३४॥

*मद्भक्तजनवात्सल्यं पूजायां चानुमोदनम् ।
मत्कथाश्रवणे प्रीतिः स्वरनेत्रादिविक्रिया ॥३५॥

विष्णोश्च कारणं नृत्य तदर्थे दम्भवर्जनम् ।
स्वयमभ्यर्चनं चैव यो विष्णुं नोपजीवति ॥३६॥

भक्तिरष्टविधा ह्येषा यस्मिन्म्लेच्छेऽपि विद्यते ।
स विप्रेन्द्रो मुनिश्रेष्ठः स ज्ञानी स च पण्डितः ॥३७॥

तस्मै देयं ततो ग्राह्यं स च पूज्यो यथा हरिः* ।
इत्येतद् गारुडं जातिं मुख्यत्वाकारणं जगौ ॥३८॥

*न मे भक्तश्चतुर्वेदी मद्भक्तः श्वपचः प्रियः ।
तस्मै देयं ततो ग्राह्यं स च पूज्यो यथा ह्यहम् ॥३९॥

विष्णुभक्तिसमायुक्तो मिथ्याचारोऽप्यनाश्रमी ।
पुनाति सकलाँल्लोकान् सहस्रांशुरिवोदितः ॐ ॥४०॥

भारते गारुडे चैवं स्थितत्वात् सर्वतः परा ।
भक्तिर्हि बाधते सर्वमबाधा लोकपावनी ॥ ४१ ॥

यत्र यल्लक्षणं इत्यादि अनेक बचन भक्ति में जाति गुणादि को अनपेक्षा सिद्ध करते हैं ॥२९-४१॥

दुष्कुलां ग्रन्थिलां वंशि सच्छिद्रां नीरसामपि ।
दग्धास्यां कर्कशां चापि बिभर्त्ति त्वां कुतो हरिः ॥४२॥

मा विषादं गमन् गोप्या न जातिगुणभागहम् ।
रिक्तान्तरङ्गां मां दृष्ट्वा संमुग्धो मधुसूदनः ॥४३॥

गोपियां :—अरी बांसुरी ! तू दुष्कुल, ग्रन्थिवाली, छिद्रवाली नीरस, जले मुंह, कर्कश फिर भी तुझे हरि क्यों अपनाते हैं ? बांसुरी :—मेरा हृदय खाली है ॥४२-४३॥

॥ॐ॥

॥ॐ॥

जात्यादिभेदविरहे सिद्धेऽपि किल शास्त्रतः ।
प्राहासाधारणं हेतुं यत इत्यादिना मुनिः ॥१॥

जात्यादि भेद नहीं है इसमें असाधारण हेतु यह है कि ॥१॥

यतस्तदीयाः ॥७३॥

क्योंकि भक्त भगवदोय होते है ॥७३॥

पश्यन्तु कर्मिणो जातिं विद्यां पश्यन्तु पण्डिताः ।
पश्यन्तु कामिनो रूपं कुलं वोढार एव च ।

इभ्या धनं च पश्यन्तु लोकाः पश्यन्तु च क्रियाम् ।
तदीयास्तु तमेवैकं पश्यन्ति भुवनत्रये ॥३॥

न च तस्मिंस्तदीये च भेदलेशोऽपि विद्यते ।
तस्मिञ्जात्यादिजोत्कर्षापकर्षौ भवतः कथम् ॥४॥

कर्मी जाति को, पण्डित विद्या को, कामी रूप को, वर-वधू रूप को, सेठ धन को, लोग क्रिया को भले देखें, तदीय तो सर्वत्र भगवान को ही देखते हैं और भगवान में जात्यादि प्रयुक्त उत्कर्षापकर्ष कैसा ? ॥२-४॥

सर्वेषां च तदीयत्वात्सर्वेषामधिकारिता ।
तदीयत्वात्तदर्थं च न्यासोऽपि न हि दुष्करः ॥५॥

सभी तदीय हैं अतः अधिकार तथा संन्यासादि तदथं समान है ॥५॥

सर्वदोषापहर्त्ता च यः स्वानां परिपालकः ।
जात्यादिहीनतां स्वानां कथं स सहतां प्रभुः ॥६॥

स्वकीयार्थे दयासिन्धुदर्याादात्मानमप्यजः।
लब्धश्रीहरिपादाश्च न्यूना जात्यादितः कथम् ॥७॥

*सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।
अभयं सर्वभूतभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम ॥८॥

तवास्मीति तदीयत्वमभयं मुक्तिरेव च।
तदीयानां विमुक्तत्वान्न जात्यादिकृता भिदा ॥९।

भगवान सर्वदोषापहारी अपने भक्तों में जात्यादि प्रयुक्त हीनता कैसे सहेंगे। भक्तों को अपनी आत्मा भी हरि देते हैं। हरि मिल गये तब जात्यादि भेद से हीन कैसे रहेंगे। 'तवास्मि' इतना कहने पर भगवान अभय देते हैं। अर्थात् तदीय होने पर वह मुक्त हो जाता है, फिर उसमें जात्यादि भेद रह हो नहीं सकता ॥६-९॥

न मुख्यत्वं च जात्यादिप्रयुक्तं भजतां सताम्।
तदीयेषु हि तन्मात्रं विशेषः कोऽपि नापरः ॥१०॥

एकान्तित्वप्रयुक्तं स्यान्मुख्यत्वमिति दर्शितम्।
न च कश्चन जात्यादावेकान्तित्वे प्रयोजकः ॥११॥

मुख्यता भी जाति आदि से नहीं, कारण तदीयों में भगवान ही विशेषता है, एकान्तित्व में भी जाति आदि प्रयोजक नहीं जिससे मुख्यता का कारण हो ॥१०-११॥

तदीयाश्च तदीयेषु कथं स्युर्भेददृष्टयः ।
आस्तां भेदस्तु कर्मार्थं न तदर्थं कथचन ॥१५॥

तदीय तदीय में ही भेद दृष्टि रखें यह सम्भव नहीं । मान भी लें कि कर्म के प्रसंग में जातिभेद रखें, पर भगवान के दरवार में वह भी सम्भव नहीं है ॥१२॥

ॐ

भक्तौ जात्यादि भेदाभावः
इत्येकान्तिभक्तनिरूपणम्

ॐ

एवं ससाधना भक्तिः सफला च निरूपिता ।
गौणी चापि प्रकरणाद् व्याख्याता ब्रह्मसूनुना ॥३॥

अथ संप्रत्यविस्मार्यं परमावश्यकं मुनिः ।
सुकरं च दयासिन्धुरिह संख्याति साधनम् ॥२॥

साधन फल सहित परमभक्ति और गौणी भक्ति का निरूपण कर अब दयालु ऋषि अविस्मरणीय परमावश्यक कुछ साधन गिनाते हैं ॥१-२॥

वादो नावलम्ब्यः ॥७४॥

वादविवाद का अवलम्बन न करना चाहिये ॥७४॥

अथ तत्त्वबुभुत्सोर्या कथाऽसौ वाद उच्यते ।
तस्य चानवलम्बे तु पशुभिः स्यात्समानता ॥३॥

कदा सृष्टिः कथं सृष्टिः कुतः सा मूलमत्र किम् ।
इत्याद्यपार्थको वाद इति केचित्प्रचक्षते ॥४॥

तन्न युक्तं तदा सर्वं पुराणं व्यर्थतामियात् ।
जगत्सृष्ट्यादिविषयवर्णनं तत्र दृश्यते ॥५॥

*सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च ।
वंशानुचरितं चेति पुराणं पञ्चलक्षणम् * ॥६॥

तेनैव भगवत्तत्त्वविज्ञानमुपजायते ।
ततो भक्तिर्भगवति भवेदाश्चर्यकर्मणि ॥७॥

न च संजातभक्तेर्न वादापेक्षेति सांप्रतम् ।
अत्र प्रकरणे सिद्धकथा नो यत्प्रवर्तते ॥ ८ ॥

अत्रोच्यतेऽतिवादोऽत्र वादशब्देन लक्ष्यते ।
स च जल्पो वितण्डा च तदनालम्ब्यता सताम् ॥९॥

पूर्वपक्ष यह होता है कि तत्त्व जिज्ञासु की वार्ता वाद है। उसके बिना तो मनुष्य पशु समान होगा। सृष्टि कब हुई इत्यादि विचार छोड़ना यहां अभिप्रेत है, ऐसे कुछ लोग कहते हैं। तब तो सारे पुराण ही व्यर्थ पड़ जायेंगे। सर्ग प्रतिसर्गादि तो पुराण के विषय

हैं। उसी से भगवान् आश्चर्यकर्मा ज्ञात होते हैं तभी भक्ति होती है। भक्ति के बाद वाद छोड़ना यहां नहीं बता रहे हैं, क्योंकि यह साधन प्रकरण है। इसका समाधान यह है कि जल्पवितण्डा रूपी अतिवाद छोड़ना यहां बताया है ॥३-९॥

किं च वादपदं लोके प्रसिद्धं साग्रहोक्तिषु ।
भगवद्दत्तचित्तानां तस्यानालम्ब्यतोच्यते ॥१०॥

नैषा तर्केण हि मतिरापनेयेति च श्रुतम् ।
ब्रह्मसूत्रकृता तर्काऽपिष्ठानादितीरितम् ॥११॥

और लोक में वाद पद का साग्रहोक्ति अर्थ पसिद्ध है। श्रुति ने और ब्रह्मसूत्रकार ने उसी बादात्मक तर्क की निन्दा की ॥१०-११॥

यस्तर्केणानुसन्धत्ते स धर्मं वेद नेतरः ।
इत्यत्र तु विचारार्थस्तर्कशब्दो न जल्पगः ॥१२॥

तर्क से धर्म का रहस्य खुलता है, यहां तर्क का अर्थ विचार ही है, जल्प नहीं ॥१२॥

*अचिन्त्याः खलु ये भावा न तांस्तर्केण योजयेत् ।
अतीन्द्रियानसंवेद्यान् पश्यन्त्यार्षेण चक्षुषा* ॥१३॥

*आविर्भूतप्रकाशानामनुपाहतिचेतसाम् ।
अतीतानागतज्ञानं प्रत्यक्षान्न विशिष्यते* ॥१४॥

इत्युक्तेरीशतत्त्वादौ सर्वथा तर्कवर्जनम् ।
महापुरुषवाक्येषु जानीयाच्छ्रद्धयैव तत् ॥१५॥

अचिन्त्य ईश्वरतत्वादि के बारे में तो सर्वथा तर्क छोड़ देना चाहिए। आर्षचक्षु से ही उनका ज्ञान होता है। अतः ऋषि वचनों में श्रद्धा से ही उस तत्व को जाने (यह भी सूत्रार्थ है) ॥१३-१५॥

द्वैताद्वैतादिवादो हि नावलम्ब्यो महात्मना ।
भगवद्भक्तिमात्रं च कर्त्तव्यमितरे जगुः ॥१६॥

द्वैताद्वैतादिवाद में न पड़ कर भक्ति करो ऐसा भी सूत्रार्थ करते हैं ॥१६॥

भक्तंमन्याः परे मायावादादिव्यङ्गशब्दतः ।
दुराग्रहादवर्त्तन्त परनिन्दाकुतर्कयोः ॥१७॥

प्रत्यध्यायं भागवते प्रायो मायापदं स्थितम् ।
अर्थान्तराणि ते तस्य कर्षाकर्षेण कुर्वते ॥१८॥

अभिलक्ष्य हि यानाह स्मृतिरन्यार्थकारिणः ।
बिभेत्यल्पश्रुताद्वेदो मामयं प्रहरिष्यति ॥१९॥

बहुश्रुताश्च बहवः प्रहरन्ति श्रुतिस्मृती ।
तैश्च सार्धं वृथावादं न कुर्युर्भक्तिवर्त्मगाः ॥२०॥

आचार्यनाभिनन्दन्तु सर्वानपि समादरात् ।
भक्तिहतूनविद्वेषांस्तदादेशान् दधत्वपि ॥२१॥

कुछ भवतंमन्य मायावादी इत्यादि शब्दों से परनिन्दा करते फिरते हैं। भागवत के प्रायः प्रत्येक अध्याय में अनेक बार माया शब्द आये हैं। उसका मनमाना अर्थ कर वेद शास्त्र पर वे प्रहार भी करते रहते हैं। उनके साथ कभी बात नहीं करनी चाहिये। हाँ ! सब आचार्यों को सम्मान दीजिये और उनके भक्ति हेतु उपदेशों को अपनाइए ॥१७–२१॥

न्याये वैशेषिके सांख्ये पुराणेष्वागमेष्वपि ।
ये ये विकल्पाः सर्वे ते लीलैव परमात्मनः ॥२२॥

सर्वे विकल्पाः प्रागासन् बीजेङ्कुर इवात्मनि ।
इच्छाज्ञानाक्रियारूपमायया ते विजृम्भिताः * ॥२३॥

इत्येवं दक्षिणामूर्त्तिवार्तिके सर्ववादिनाम् ।
वादानामनिरासेन विकल्पान् समसाधयत् ॥२४॥

*अस्पर्शयोगो वै नाम सर्वसत्त्वसुखो हितः ।
अविवादोऽविरुद्धश्च देशितस्तं नमाम्यहम्* ॥२५॥

*ख्याप्यमानामजातिं तैरनुमोदामहे वयम् ।
विवादमो न तैः सार्धमविवादं निबोधत* ॥२६॥

इति वर्णितमाचार्यचरणैर्वेदवादिभिः ।
परमार्थैकचित्तानामविवादास्पदंपदम् ॥२७॥
इत्थं च सर्वशास्त्रैरप्यविरोधे स्थिते सति ।
वादः किमर्थमालम्ब्यश्चित्तविक्षेपकारणम् ॥२८॥

न्यायवैशेषिकाद्युक्त सभी विकल्प बोज में अंकुर के समान भगवान में पूव रहे और इच्छा ज्ञान क्रिया शक्ति रूप माया से भगवान ने उन्हें प्रकट किया इस वार्तिकोक्ति से और अस्पर्श योग अविवाद और अविरुद्ध है इस गौडपादाचार्यवचन से सभी विकल्न अविरुद्ध हैं तो व्यर्थ में चित्तविक्षेप के लिए वाद ही क्यों करना (सभी वादियों के पदार्थों को हां हां करते जाना चाहिये और अपना भक्ति करते रहना चाहिये) ॥२२-२८॥

ॐ

———

ॐ

ननु वादोऽल्पतस्तत्त्व-निर्णयायाभ्युपेयताम् ।
यत्राल्पविषयस्तत्र हानिर्वादे न विद्यते ॥१॥

तत्व निर्णयार्थ अल्पवाद या अल्पविषयस्थल में वाद करने में क्या हा न ? ॥१॥

किं च श्रीशंकराचार्यो जिग्युर्वादेषु मण्डनम् ।
अयूयुजन्नपि ब्रह्म–निष्ठायामिति विश्रुतम् ॥२॥

तथा वादे पराजित्य परान् भक्तिपराङ्मुखान् ।
संपादयेद्धरेर्भक्तांस्तत्र का क्षतिरुच्यताम् ॥३॥

श्री शंकराचार्य ने मण्डनमिश्र को वाद में परास्त कर ब्रह्म निष्ठ बनाया। वैसे अभक्तों को वाद में हराकर भक्त बनाने में क्या नुकशान ? ॥२–३॥

बाहुल्यावकाशादनित्यत्वाच्च ॥७५॥

इसलिए वाद न करें, क्योंकि वह बढ़ेगा औरफल भी अस्थायी है ॥७५॥

सत्यं, वादस्थले वादबाहुल्यं स्वयमापतेत् ।
आग्रहो जायते पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहे ॥४॥

उक्त शंका का समाधान यह है कि वाद बढ़ता जाता है। क्योंकि पक्ष प्रतिपक्ष परिग्रह होने से अपने पक्ष पर आग्रह होना स्वाभाविक है ॥४॥

शाखाप्रशाखान्यायेन शतशो विषयाः पुरः ।
वादिनामुपतिष्ठन्ते प्रतिष्ठा क्व ततो भवेत् ॥ ५॥

तथा च स्वल्परूपेण कृतारम्भोऽप्यसौ क्वचित् ।
बहुविस्तारतां याति चित्तविक्षेपकारणम् ॥६॥

मा भूत्क्वाचित्कत्राचिद्वादबाहुल्यं किन्तु प्रायशः ।
बाहुल्यास्यावकाशो हि सर्वत्रैवावलोक्यते ॥७॥

तदर्थं समयो भूयान् विना भक्त्या विगच्छति ।
किं चोत्तरं मार्गयितुं विनियोगो वृथा धियः ॥८॥

अपि चानियता वादनिर्णीतोऽप्यर्थ ईक्ष्यते ।
वादान्तरेषु तस्यैव निराकरणदर्शनात् ॥८॥

*यत्नेनानुमितोऽप्यर्थः कुशलैरनुमातृभिः ।
अभियुक्ततरैरन्यैरन्यथैवानुमीयते * ॥१०॥

अपि च श्रद्धया बुद्धमाप्तवाक्यादितः स्थिरम् ।
नित्यं स्यान्न पुनर्वादादविश्वास्यं हि तद्यतः ॥११॥

साधकानां न युक्तं स्यादाचार्याणां निदर्शनम् ।
भगवानेव कर्त्तव्यं स्वयं संपादयिष्यति ॥१२॥

वादे वादे यदि मतं तत्त्वबोधः प्रजायते ।
वादे वादे सममिदं वैरवह्निश्च जायते ॥१३॥

*तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते* ॥१४॥

इति स्वयं भगवता प्रोक्तत्वाद् बोधहेतवे ।
अनित्यो वैरहेतुश्च कुतोऽयमवलम्ब्यताम् ॥१५॥

शाखा प्रशाखा से वाद बढ़ता जाता है। बढ़ने का मौका सर्वत्र है। विना भक्ति उतना समय बर्बाद जाता है। बुद्धि का व्यर्थ विनियोग होता है। वाद से निर्णीत अर्थ वादान्तर में फिर काटा भी जाता है। और श्रद्धा से आप्तवचन से सुना अर्थ जैसा हृदय में ठहरता है वैसा वादनिर्णीत अविश्वसनीय अर्थ ठहर भी नहीं सकता। आचार्यों की बात साधकों पर लागू नहीं होती जिनको भक्त बनाना है, स्वयं भगवान करेंगे। यदि कहो कि वाद में तत्वबोध होता है तो वैर भी बढ़ना है। और तत्वबोध तो भक्तों को भगवान स्वयं देते हैं, यह गीतावचन है ॥५–१५॥

ननु वादो न कर्त्तव्य इति कस्मान्न सूत्रितम् ।
तस्य ह्यनवलम्ब्यत्वं वदतः कः किलाशयः ॥१६॥
अत्राहुर्मुनिराचख्यावालंकारिकभाषया ।
वादो न कार्य इत्येव तस्यार्थं इति केचन ॥१७॥
परे तु सर्वथा वादो मुनिना न निषिध्यते ।
न तत्र निर्भरः काय इत्येतावदुदार्यते ॥१८॥
तेन यत्राग्रहो नास्ति जिज्ञासामात्रमीक्ष्यते ।
लेशवादेऽभ्युपेतेऽपि तत्राहानिः प्रसूच्यते ॥१९॥

'वादो न कर्त्तव्य', ऐसा न कहकर 'नावलम्ब्य:' कहने का तात्पर्य वाद पर निर्भर न हो, आग्रहशून्य स्थल में भले ही थोड़ा करें, ऐसा कुछ लोग मानते हैं। अन्य लोग 'नावलम्ब्य:' का न कर्त्तव्यः ही अर्थ मानते हैं ॥१६–१९॥

ॐ

———

ॐ

ननु सर्वविकल्पानां परमात्मनि संस्थिते: ।
अध्येयान्यखिलान्येव भक्तैः शास्त्राणि वादिनाम् ॥१॥
तदर्पिताखिलाचार इति च प्रागुदीरितम् ।
ततः कर्मविशेषेषु नाग्रहोऽपीति चेन्न तत् ॥२॥

सभी विकल्प भगवान में ही हैं तो सर्ववादि शास्त्र पढ़ने योग्य हैं। तथा तदर्पिताखिलाचारता से सर्वकम भी कर्त्तव्य है, कर्मविशेष में आग्रह योग्य नहीं ॥१–२॥

भक्तिशास्त्राणि मननीयानि तदुद्बोधकराणि कर्माण्यपि च करणीयानि ॥७६॥

भक्तिशास्त्रों का मनन और भक्त्युद्बोधक कर्म करना चाहिये ॥७६॥

श्रीमद्भागवतादीनि भक्तिशास्त्राणि नित्यशः ।
मननीयानि मनुजैर्भक्तिवृद्धिमभीप्सुभिः ॥३॥
एवं भक्तचरित्राणि शास्त्राणीत्युपलक्षणात् ।
मननीयानि तैश्चापि भक्तानां भक्तिवर्धनात् ॥४॥

श्रीमद्भागवतादि भक्ति शास्त्र तथा भक्त चरित्रों का मनन भक्तिवृद्ध्यर्थ करें ॥३–४॥

यस्मिन् शास्त्रे पुराणे वा हरिभक्तिर्न दृश्यते ।
श्रोतव्यं नैव तच्छास्त्रं यदि ब्रह्मा स्वयं वदेत् ॥५॥

हरिभक्तिर्नेति कथं बुध्येच्छ्रवणमन्तरा ।
उच्यते श्रवणावृत्तिर्मननं वा निषिध्यते ॥६॥

अतः सूत्रकृताप्यत्र श्रोतव्यानीति नोदितम् ।
भूयःश्रवणमप्येव मननत्वेन संमतम् ॥७॥

यत्राप्तवाक्यतो ज्ञातं हरिभक्तिर्न विद्यते ।
सकृच्छ्रवणमप्येषां युक्तं नास्तीत्यपीष्यते ॥ ८ ॥

हरिभक्ति जहां न दीखे, उस शास्त्र को न सुनो, अर्थात् उसकी श्रवणावृत्ति या मनन न करो, अतएव सूत्रकार ने मननीयानि कहा। श्रवण की आवृत्ति भी मनन ही है। हरि भक्ति का अभाव निश्चित हो गया तो एक बार भी श्रवण न करें ॥५–८॥

ये पुनः परदोषैकदर्शिनः स्वमताग्रहाः ।
तदुक्तमपि न श्राव्यमपि भक्तवदीक्षिताः ॥९॥

परदोषदर्शी मताग्रही का भी वचन न सुनो, भले वह भक्त जैसा दीखता है ॥९॥

अद्वैतशास्त्रं न श्राव्यमिति केचित्प्रचक्षते ।
तन्न भागवते सम्यगद्वैतप्रतिपादनात् ॥१०॥

नैषा समाधिभाषेति त्वेकेऽद्वैतागिरं जगुः ।
अयं परमतस्यानुवाद इत्यूचिरेऽपरे ॥११॥
तन्नासमाधिभाषान्यानुवाद इति चेत्समे ।
स्वानभीष्टं वदेयुस्तद्भवेच्छास्त्रादिविप्लवः ॥१२॥

अद्वैतशास्त्र मत सुनो ऐसे कुछ लोग बोलते हैं, पर भागवत में अद्वैत का सम्यक् प्रतिपादन है । उसे कुछ लोग समाधिभाषा नहीं है कहते हैं। दूसरे लोग परमतानुवाद है कहते हैं। परन्तु यह सब गलत है। ऐसे फिर सभी अपने अनभीष्ट अंश को असमाधि भाषा परमतानुवाद ऐसा कहने लगेंगे, तो सर्वविदशास्त्र विप्लव हो जायेगा ॥१०-१२॥

स्वानभीष्टं बुधाः केचित्प्रक्षिप्तं ब्रुवते मतम् ।
इदं मतद्वयं तस्मादविशिष्टं विचक्ष्महे ॥१३॥

कुछ लोग (आर्य समाजीय) शास्त्रों में अपने अनभीष्ट अंश को प्रक्षिप्त बोलते हैं। असमाधिभाषा और परमतानुवाद कहने वालों के ये दो मत भी उसी कोटि के ही हैं ॥१३॥

उक्तश्च सर्ववादानामविरोधो मया पुरा ।
तथा च श्रद्धया नित्यं पठेद्भागवतादिकम् ॥१४॥

और सर्ववाद-अविरोध हमने पहले ही बता दिया ॥१४॥

पूजापाठादिकर्माणि कर्त्तव्यानि विशेषतः ।
सर्वं हि भगवत्पूजेत्युक्त्या नालस्यमाश्रयेत् ॥१५॥

सर्वत्र भगवत्सत्त्वात् कुटुम्बपरिपालनम् ।
हरिसेवा किमन्येनेत्युपेक्षिपत सत्क्रियाम् ॥१६॥

पूजा पाठादि भक्त्युद्बोधक विशेषरूप से करना चाहिये। सर्वत्र भगवान है, अतः कुटुम्बसेवा भी हरिपूजा ही तो है इत्यादि कह कर पूजादि की उपेक्षा करना उचित नहीं है ॥१५ १६॥

*गुरुपादाश्रयस्तस्मात्कृष्णदीक्षादिशिक्षणम् ।
विस्रम्भेण गुरोः सेवा साधुवर्त्मानुवर्त्तनम् ॥१७॥
सद्धर्मपृच्छा भोगादि–त्यागः कृष्णस्य हेतवे ।
निवासो द्वारिकादौ च गङ्गादेरपि संनिधौ ॥१८॥
व्यवहारेषु सर्वेषु यावदर्थानुवर्त्तिता ।
हरिवासरसंमानो धात्र्यश्वत्थादिगौरवम् ॥१९॥
एतानि दश कर्माणि भक्त्युद्बोधस्य हेतवे ।
प्रयत्नेनैव कार्याणि हर्षयुक्तेन चेतसा* ॥२०॥

भक्ति के उद्बोधक प्रथम ये दस मुख्य कर्म हैं—गुरूपसदन, दीक्षाप्राप्ति, गुरुसेवा, सन्तमार्गानुगमन, भगवद्धर्मचर्चा, भगवन्निमित्त यथाशक्ति भोगसमर्पण, द्वारिकामथुरादि स्थानों में समय–समय पर यात्रानिवासादि, जितना प्रयोजन उतना ही व्यवहार में रहना, जन्माष्टमी आदि का आदर, आँवला अश्वत्थादि का पूजन। इनको सहर्ष प्रयत्नपूर्वक सम्पादन करना चाहिये ॥१७-२०॥

भक्त्युद्बोधावरोधानि त्यजन्नेव महामतिः ।
तदुद्बोधकरान् भावानपि संपादयेत्सदा ॥२१॥

भक्त्युद्बोधक कर्म करने के साथ जो भक्ति-उद्बोध में अवरोध कारी कर्म हैं उन्हें त्यागें भी। तथा भक्ति उद्भावक भावों का भी सदा सम्पादन करें ॥२१॥

सङ्गत्यागो विदूरेण भगवद्विमुखैर्जनैः ।
कार्यस्तत्साङ्गिसङ्गोऽपि परित्याज्यो हि सर्वथा ॥२२॥
शिष्याद्यननुबन्धित्वं महारम्भाद्यनुद्यमः ।
बहुग्रन्थकलाभ्यासव्याख्यावादविवर्जनम् ॥२३॥
व्यवहारेष्वकार्पाण्यं शोकाद्यवशवर्त्तिता ।
अन्यदेवानवज्ञानं भूतानुद्वेगदायिता ॥२४॥
सेवानामापराधानामनुद्भावनकारिता ।
कृष्णतद्भक्तविद्वेषिविनिन्दाद्यसहिष्णुता ॥२५॥
एतन्निवृत्तिदशकमनुष्ठेयं महात्मभिः ।
भक्त्युद्बोधावरोधोज्झं चित्तं स्निग्धं यतो भवेत् ॥२६॥

भक्ति उद्बोधन में अवरोधकारी दस तत्व से निवृत्त रहना चाहिये। भगवद्विमुख एवं तत्सङ्गियों का सङ्ग छोड़ो, चेले चाटियों के बन्धन में मत पड़ो, भारी उद्यमों को न करो, बहुग्रन्थाभ्यासादि के पीछे मत लगो, व्यवहार में कृपणता त्यागो, शोकादि के वश में न हो जाओ, अन्यदेवों की अवज्ञा न करो, प्राणियों को उद्वेग

मत दो, सेवापराध नामापराधादि न करो, श्रीकृष्ण एवं कृष्ण भक्तों के विद्वेषियों से की गयी निन्दा का सहन न करो (वहां से हट जाओ) ॥२२-२६॥

धृतिर्वैष्णवचिह्नानां हरेर्नामाक्षरस्य च।
निर्माल्यादेश्च तस्याग्रे ताण्डवं दण्डवन्नतिः ॥२७॥
अभ्युत्थानमनुव्रज्या गतिः स्थाने परिक्रमा।
अर्चनं परिचर्या च गीतं संकीर्त्तनं जपः ॥२८॥
विज्ञप्तिः स्तवपाठश्च स्वादो नैवेद्यपाद्ययोः।
धूपमाल्यादिसौरभ्यं श्रीमूर्त्तेः स्पृष्टिरीक्षणम् ॥२९॥
आरात्रिकोत्सवादेश्च श्रवणं तत्कृपेक्षणम्।
स्मृतिर्ध्यानं तथा दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम् ॥३०॥
निजप्रियोपहरणं तदर्थेऽखिलचेष्टितम्।
सर्वथा शरणापत्तिस्तदीयानां च सेवनम् ॥३१॥
यथावैभवसामग्रि सद्गोष्ठीभिर्महोत्सवः।
ऊर्जादरो विशेषेण यात्राजन्मदिनादिषु ॥३२॥
श्रद्धाविशेषतः प्रीतेः श्रीमूर्त्तेरङ्घ्रिसेवनम्।
श्रीमद्भागवतार्थानामास्वादो रसिकैः सह ॥३३॥
सजातीयाशये स्निग्धे साधौ सङ्गः स्वतो वरे।
नामसंकीर्त्तनं श्रीमन्मथुरामण्डले स्थितिः ॥३४॥

इत्येवं वैष्णवग्रन्थेष्वन्यत्रापि यथायथम् ।
निरूपितानामङ्गानां कर्मत्वागुपलक्षणम् ॥३५॥

व्याख्यातानि पुरैवात्र बहून्यङ्गानि विस्तरात् ।
व्याख्येयानि तथान्यानि मानं भागवतादिकम् ॥३६

तदुद्बोधकर कर्म से ये सभी उपलक्षणीय हैं जैसे कि—वैष्णव चिह्न तुलसीमालादि धारण करना, भगवत्संमुख नृत्य करना, प्रणाम करना, रथयात्रादि में अभ्युत्थान करना, पीछे चलना, परिक्रमा करना, पूजन, सेवा, गीत, कीर्त्तन तथा जप करना, भगवान के सामने अपना निवेदन करना, स्तुति पाठ करना, भगवान का भोग आदि प्रसाद ग्रहण करना, धूप, पुष्प आदि की सुगन्ध ग्रहण करना, मूर्त्ति स्पर्श करना, दर्शन करना, स्मरण करना, आरति आदि का दर्शन करना, कृपादृष्टिदर्शन करना, स्मरण करना, ध्यान करना, दस्य, सख्य एवं आत्म-निवेदन करना, अपनी प्रिय वस्तु भगवान को समर्पण करना, भगवदर्थ सभी चेष्टा करना, सर्वथा शरण ग्रहण करना, भगवद्भक्तों की सेवा करना, शक्ति अनुसार उत्सवादि करना, रथ यात्रा जन्माष्टमी आदि में विशेष उत्साह रखना, अतिश्रद्धा से श्रीविग्रह पूजन आदि करना, भक्तों के साथ भागवत रसास्वादन करना, अपने से बड़े सन्तों का संग करना, नाम सङ्कीर्त्तन, व्रज मण्डल में निवास इत्यादि वैष्णव ग्रन्थादि में निरूपित सबका यहां कर्मपद से ग्रहण समझना चाहिये। बहुत कुछ पहले आ चुका और आगे भी आयेगा। इन में प्रमाण भगवतादि है ॥२७–३६॥

अपिः समुच्चिनोत्यर्थमनुक्तमपि यद्यपि ।
तथापि कर्म कर्त्तव्यमेव साधोरितीर्यते ॥३७॥

"तदुद्बोधककर्माण्यपि च" यहां अपि पद से अनुक्तार्थ का भी समुच्चय है। भक्ति उद्बोधक सभी ग्राह्य हैं। तथापि साधक बाह्य कर्म की उपेक्षा न करें, एतदर्थ कर्म पद का विशेष रूपेण कथन है ॥३७॥

ॐ

ॐ

सति संरक्षयितारि हरौ चिन्ता नु का मम ।
इति प्रमादः सेवायां मा भूदित्यधुनोच्यते ॥१॥

रक्षा करने के लिए भगवान नित्य जागृत रहते हैं। अतः मुझे चिंता करने की क्या जरूरत? ऐसा सोचकर कहीं सेवा में भी प्रमाद न हो जाय एतदर्थ उत्तर सूत्र है—॥१॥

सुखदुःखेच्छालाभादित्यक्ते काले प्रतीक्ष्यमाणे क्षणार्धमपि व्यर्थं न नेयम् ॥७७॥

सुख, दुःख इच्छा, लाभ, आदि से रहित काल की प्रतीक्षा करते हुए आधा क्षण भी व्यर्थ गँवाना नहीं चाहिए ॥७७॥

क्तान्तोत्तरनिपातस्तु स्यादग्न्याहितशब्दवत् ।
सुखादयः परित्यक्ता यस्मिन् काले स तादृशः ॥२॥

सुखादि को त्याग दिया जिस काल में इस विग्रह में यद्यपि त्यक्त पद क्तान्त होने से पूर्वनिपात होने योग्य था—त्यक्तसुख दुःखेच्छालाभादौ ऐसा प्रयोग होना चाहिये था। तथापि आहिताग्नि गण में पाठ मान कर समाधान करना चाहिए ॥२॥

स्यात्तृतीयासमासो वा सुखादेस्त्यागकर्त्तृता ।
उच्यतेऽयत्नतः सिद्धं परित्यागं विवक्षुणा ॥३॥

अथवा तृतीयासमास ही किया जा सकता है। सुखादि ने छोड़ दिया कहने का मतलब है—अपने आप छूट गये। साधक की स्वभावसिद्ध अवस्था को बतलाने के लिए ऐसा कहा ॥३॥

जगतीत्यक्तकालो हि जगतीप्रलयो यथा ।
सुखादित्यक्तकालश्च सुखादिप्रलयस्तथा ॥४॥

सुखादि ने काल को छोड़ा, इसका अर्थ यह नहीं कि सुखादि रह गया, काल न रहा। जैसे प्रपञ्चत्यक्त काल का अर्थ प्रपञ्च-प्रलय है, वैसे सुखादित्यक्तकाल सुखादिविलय ही है ॥४॥

सुखादिजन्यहर्षादिराहित्यमभिधित्सितम् ।
सुखाद्यप्रत्ययो वास्तु जीवन्मुक्तिस्वरूपभाक् ॥५॥

सुखादिविलय का भी मतलब सुखादि से जन्य हर्षशोकादि का अभाव ही है। अथ वा सुखादि की प्रतीति ही न हो, यही सुखादि का त्याग है, अर्थात् जीवन्मुक्ति काल यहां विवक्षित है ॥५॥

***अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च ।**
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी ॥६॥

संतुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः।
मय्यर्पित मनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥७॥

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः ॥८॥

अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः।
सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥९॥

यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचाति न काङ्क्षाति ।
शुभाशुभपरित्यगी भक्तिमान् यः स भे प्रियः ॥१०॥

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः ॥११॥

तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी संतुष्टो येन केन चित् ।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान् मे प्रियो नरः ॥१२॥

ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते।
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तस्तेऽतीव मे प्रियाः* ॥१३॥

इति सम्यग् भागवता गीतासूदितलक्षणम्।
यस्मिन् सम्पद्येत काले तत्प्रतीक्षा विधीयताम् ॥१४॥

"अद्वेष्टा सर्वभूतानां" से लेकर "भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः" तक गीता द्वादशाध्याय में भगवान ने जो लक्षण बताये हैं, उन

लक्षणों के आविर्भूत होने का काल ही "सुखदुःखेच्छालाभादित्यक्ते काले" इस अंश से नारद जी को अभिप्रेत है। उस काल की प्रतीक्षा भक्त को करनी चाहिये ॥६-१४॥

भक्तानां लक्ष्यभूतोऽयं काल इत्येव नारदः।
सिद्धवत्कृत्य तं कालं विधेयान्तरमब्रवीत् ॥१५॥

"कदा वृन्दारण्ये" कदा वाराणस्यां" इत्यादि रीति भक्त लोग उस काल की प्रतीक्षा प्रायः करते हैं, अतः नारदजी ने यहाँ पर 'कालः प्रतीक्ष्यतां' ऐसी विधि नहीं की। किन्तु सिद्धवत् उस काल को उद्देश्य कोटि में डालकर "क्षणार्धमपि व्यर्थं न नेयं" इस प्रकार अन्य का विधान किया ॥१५॥

कालक्षेपं नरः कुर्याद् देवाराधनतत्परः।
व्यर्थं क्षणार्धमपि वा न कालं क्षपयेत् क्वचित् ॥१६॥

देवाराधन में तत्पर होकर कालक्षेप करो। कहीं भी आधा क्षण भी व्यर्थ न करो, ऐसा सूत्रार्थ है॥१६॥

कदा वृन्दावने रम्ये चरन्तं नन्दनन्दनम्।
अये कृष्णेति चाक्रोशन् क्षणवद्वसरान्नये ॥१७॥

इत्थं प्रतीक्षां विदधद् हरेर्नामानि संजपन्।
आराध्नुवन् स्मरन् गायन् समयं सफलं नयेत् ॥१८॥

ऐसा समय मेरा कब आयेगा, जब मैं वृन्दावनचारी भगवान को हे कृष्ण इत्यादि पुकारता हुआ क्षण समान 'दिवस बिताऊँ इस प्रकार प्रतीक्षा करते हरिनाम जपते हुये तथा पूजा-स्मरण-स्तुति आदि करते हुये समय को सफल करना चाहिये ॥१७-१८॥

नतु प्रतीक्ष्यमाणत्वसंयोगः क्रियेत कुतः ।
मैवं प्रेम्णि परिप्राप्ते कालक्षेपाप्रसक्तितः ॥१९॥
तदा कृतार्थो भवति सुखदुःखाद्यभावतः ।
को विधिः को निषेधश्च निस्त्रैगुण्यायनायिनाम् ॥२०॥

प्रश्न उठता है कि प्रतीक्षाकाल में काल को व्यर्थ मत बितावो, ऐसा क्यों कहा ? प्रतीक्षित काल के आने पर भी तो समय व्यर्थ नहीं करना चाहिए। तब भी भजनादि चालू ही रखना चाहिए। उत्तर है—प्रेम प्राप्त होने पर कालक्षेप की शंका ही नहीं उठती। सुखदुःखादि जहां त्यक्त हो गये, समभाव आ गया तो वहीं निस्त्रैगुण्यावस्था है। वहां फिर विधि निषेधादि कुछ रहता ही नहीं ॥१९–२०॥

किंचित्प्रेमावलोक्यैव सिद्धोऽहमिति मा स्म भूत् ।
अतः सुखादिसंत्यक्तकालं प्राह दयावशः ॥२१॥

थोड़ा सा प्रेमाभास मन में प्रतीत हुआ इतने में ही अपने को सिद्ध समझकर साधना त्याग न कर लें। अतः दयालु देवर्षि ने बताया कि सुखदुःखादि का आभास जब तक न छूटे तब तक सजग रहो ॥२१॥

समीक्षमाणस्तत्तेऽनुकम्पामात्मविपाकभुक् ।
हृद्वाग्वपुर्भिः प्रणमंस्त्वां मुक्तिं याति पूरुषः ॥२२॥

"तत्तेऽनुकम्पां सुसमीक्षमाणः" इत्यादि दशमस्कन्धीय श्लोक में इसी प्रतीक्षा करने एवं हृदय वाणी आदि से स्मरणादि करते हुए काल को अव्यर्थ बनाने की बात बतायी है ॥२२॥

*निद्रया ह्रियते नक्तं व्यवायेन च वा वयः ।
दिवा चार्थेहया राजन् कुटुम्बभरणेन च* ॥२३॥

जिन्दगी इस प्रकार बीत रही है कि रात नींद में या ग्राम्य-विषय भोग में बीत जाती है और दिन धनार्जन एवं कुटुम्ब-पोषण में ॥२३॥

अशनं वसनं जायेत्येवं नक्तंदिवं जनः ।
वृथा विनश्यदप्यायुः पश्यन्नपि न पश्यति ॥२४॥

भोजन, वस्त्र, घरबार इसी में दिन–रात लोग लगे हैं। वृथा आयु नष्ट हो रही है, फिर भी इसे देखते हुए भी लोग अन्धे बने हुये हैं ॥२४॥

***आयुर्हरति वै पुंसामुद्यन्नस्तं च यन्नसौ ॥**
तस्यर्त्ते यत्क्षणो नीत उत्तमश्लोकवार्त्तया* ॥२५॥

भगवद्वार्त्ता के बिना जिसका समय बीतता है उसकी आयु का यह उदय और अस्त होते सूर्य भगवान हरण कर रहे हैं, यही समझो ॥२५॥

सा हानिस्तन्महच्छिद्रं सा चान्धजडमूकता ।
यन्मुहूर्त्तं क्षणं वापि हरिनाम न कीर्त्तयेत् ॥२६॥

यही संसार में बड़ी हानि है बड़ा छिद्र है अन्धता जड़ता और मूढ़ता है कि मुहूर्त्तभर या क्षणभर भी हरिनाम संकीर्तन न किया जाय ॥२६॥

***तस्मादेकेन मनसा भगवान् सात्त्वतां पतिः ।**
श्रोतव्यः कीर्त्तितव्यश्च ध्येयः पूज्यश्च नित्यदा*॥२७॥

इस लिए एकाग्रचित्त होकर नित्य ही भगवान् का श्रवण-कीर्त्तन ध्यान एवं पूजा करते रहना चाहिये ॥२७॥

कालं प्रतीक्षतां कामं यज्ञदानजपादिषु ।
कुतः प्रतीक्षतां काल भगवन्नामकीर्त्तने ॥२८॥

यज्ञ दान तप आदि के लिए समय नियत होने से काल की प्रतीक्षा भले करो किन्तु भगवन्नामकीर्त्तन में काल को प्रतीक्षा क्यों ? ॥२८॥

मा हीरकमणीन् क्षेप्सीः खगे केदारलोभतः ।
न पुनर्लप्स्यसे नैव भोगेच्छुश्चायुषः क्षणान् ॥२९॥

खेत के लोभ में चिड़ियों को उड़ाने के लिए हीरे की मणियों को मत फेको। ये वापिस नहीं मिलेंगे। वैसे भोग की इच्छा से आयु के मणि सदृश क्षणों को भी नष्ट मत करो ॥२९॥

ॐ

ॐ

*स्मर्त्तव्यः सततं विष्णुर्विस्मर्त्तव्यो न जातुचित् ।
सर्वे विधिनिषेधाः स्युरेतयोरेव किंकराः* ॥१॥

तेपुस्तपस्तेऽजुहवुः सस्नुरित्यादिकं वचः ।
शृण्वतः संशयः सोऽयं चारित्र्यं गृह्यतां न वा ॥२॥

भक्त्यैव कृतकृत्यत्वे किं स्याच्चारित्र्यरक्षणात् ।
न च तत्साधकस्यापि शक्यानन्त्यं हि नाम्नि यत् ॥३॥

भगवान का सतत स्मरण करो, भूलो मत, बस, इस विधि और निषेध के ही अन्य सभी विधि निषेध दास है, अर्थात् इतना पालन हुआ तो अन्य विधि निषेध के पीछे पड़ने की जरूरत नहीं है। जिन्होंने नाम लिया, उन्होंने स्नान तप हवनादि सब कुछ कर लिया इत्यादि शास्त्र वचन सुनने पर संशय हुआ कि फिर चारित्र्य का पालन आवश्यक है या नहीं ? पूर्वपक्ष है कि भक्ति से ही कृत-कृत्यता हो जाती है तो चारित्र्य से क्या मतलब ? यदि कहें कि सिद्ध भक्तों के लिए चारित्र्य की आवश्यकता भले न हो, साधक के लिए तो आवश्यक है, तो उत्तर है कि नाम में इतनी शक्ति है कि उसी से सभी दोष नष्ट हो सकते हैं। अतः साधकों के लिए चारित्र्यरक्षण की उपयोगिता सिद्ध नहीं होती ॥१-३॥

***अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् ।**
साधुरेवे*ति भगवा न्प्याहाचारशून्यताम् ॥४॥

महादुराचारी भी अनन्य भाव से भगवद्भजन करता हो तो वह साधु ही है ऐसा कहकर गीता में भगवान ने भी आचारको महत्व-शून्य बताया ॥४॥

अहिंसासत्यशौचदयास्तिक्यादिचारित्र्याणि परिपालनीयानि ॥७८॥

अहिंसा, सत्य, शुचिता, दया, आस्तिकता आदि चारित्र्यों का परिपालन करना चाहिये ॥५॥

अत्र ब्रूमः स्वयंसिद्धं चारित्र्यं सिद्धिमीयुषाम् ।
साधकस्य च तत्साध्यमित्ययं निश्चितो नयः ॥५॥

इस पूर्वपक्ष पर यही सिद्धान्त है कि सिद्धोंके लिए चारित्र्य तो स्वय सिद्ध होता है। साधक के लिए वह अवश्य संपाद्य है ॥५॥

अव्यर्थं नयता कालं भगवद्भक्तिनिष्ठया।
पालनीयानि चारित्र्याण्यहिंसादीन्यसंशयम् ॥६॥

भगवद्भक्तिनिष्ठा से काल सार्थक करते हुये ही सावधानी के साथ अहिंसादि चारित्र्य का पालन करना ही चाहिये। इसमें संशयपूर्वपक्षादि के लिए कोई स्थान नहीं है ॥६॥

*कृपालुरकृतद्रोहस्तितिक्षुः सर्वदेहिनाम्।
सत्यसारोऽनवद्यात्मा समः सर्वोपकारकः ॥७॥
कामैरहतधीर्दान्तो मृदुः शुचिरकिञ्चनः।
अनीहो मितभुक् शान्तः स्थिरो मच्छरणो मुनिः ॥८॥
अप्रमत्तो गभीरात्मा धृतिमान् जितषड्गुणः।
अमानी मानदः कल्पो मैत्रः कारुणिकः कविः ॥९॥
इत्येवं तत्र तत्रैव श्रीमद्भागवतादिषु।
चारित्र्याण्युपादिष्टानि पालनीयानि तानि हि ॥१०॥

कृपालु अकृतद्रोह इत्यादि रीति श्रीमद्भागवतादि में उपदिष्ट चारित्र्यों का पालन करना ही चाहिए ॥७–१०॥

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम् ॥११॥
अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम्।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम् ॥१२॥

तेज: क्षमा धृति: शौचमद्रोहो नातिमानिता ।
दैवी संपदियं सर्वा चारित्र्यमिति केचन ॥१३॥

अभयं सत्वसंशुद्धि इत्यादि रीति गीता में बतायी गयी दैवी संपदा ही अहिंसादि चारित्र्य है, ऐसे कुछ विद्वानों का मत है ॥११-१ ॥

अत्रेदं चिन्त्यते कस्माच्चारित्र्याणीति भण्यते ।
अहिंसादिषु दिष्टेषु न सोक्ति: सप्रयोजना ॥१४॥

यहां यह विचार करते हैं कि "अहिंसा……आदि चारित्र्याणि" यहां चारित्र्यापद क्यों कहा गया? अहिंसादि का पालन करो, कहने के बाद चारित्र्यपद जोड़ने का कोई प्रयोजन नहीं है ॥१४॥

उच्यते कर्मकाण्डं न कृत्स्नं चारित्र्यशब्दभाक् ।
आचार: किन्तु भक्तानामिह चारित्र्यशब्दित: ॥१५॥

इसका उत्तर यह है कि पूरे कर्मकाण्ड को चारित्र्य नहीं कहते। किन्तु प्रकृत में भक्तों का आचरण ही चारित्र्य है ॥१५॥

तथा च यज्ञदानादिसर्वकर्मसु नाग्रह: ।
अहिंसाद्या: सदाचारा भक्तानां विधिगोचरा: ॥१६॥

तब आस्तिक्यादि में आदि पद से विधि विषय यज्ञदानादि तक न पहुँच जाय, एतदर्थ चारित्र्यपद है। अर्थात् यज्ञदानादि कर्मकाण्ड में आग्रह नहीं है। हां, अहिंसा आदि सदाचार तो भक्तों के लिए विधेय ही है ॥१६॥

सिद्धानामपि भक्तानां ते स्युः स्वाभाविका गुणाः ।
साधकानां प्रयत्नेन साध्या इत्याशयो मुनेः ॥१७॥

सिद्ध भक्तों में तो ये स्वाभाविक गुण हो बन जाते हैं। साधक भक्तों को प्रयत्न पूर्वक इनका संपादन करना चाहिए। यह मुनि का आशय है ॥१७॥

जगौ निदर्शनार्थत्वान्मुख्यत्वाच्च महामुनिः ।
सर्वथा परिपाल्यत्वादहिंसादीनि कानिचित् ॥१८॥

तब प्रश्न होगा कि 'चारित्र्याणि परिपालनीयानि इतना हो कहना था। भक्तिग्रन्थ होने से भक्ताचरण स्वतः प्राप्त होते। ठीक है। तथापि उदाहरण के रूप में अहिंसासत्यादि को बताया। और अनेक चारित्र्यों में यहां बताए गये चारित्र्य मुख्य हैं, इनका सर्वथा पालन होना चाहिये, इस आशय से कुछों की परिगणना नारदजी ने की ॥१८॥

देशतः कालतो वापि तथा समयतोऽपि च ।
अहिंसाद्यनवच्छिन्नं सार्वभौमं महाव्रतम् ॥१९॥

देश से काल से एवं समय से अनवच्छिन्न अहिंसादि को सार्वभौम महाव्रत महर्षि पतञ्जलि ने कहा है ॥१९॥

अभावस्तु व्रतं नैव व्रतं भावात्मकं मतम् ।
तस्मात् सविषयस्तत्तन्निश्चयोऽत्र विवक्षितः ॥२०॥

हिंसा आदि का अभाव इतना ही अर्थ नहीं है। क्योंकि पातञ्जल सूत्रोक्त व्रतत्व अभावमें नहीं हो सकता। अत; अहिंसादि

विषयक निश्चय ही यहां अहिंसा आदि है ॥२०॥

हिंसादौ हि परिप्राप्ते निवृत्तिर्या ततः स्थिरा।
अहिंसादिः स धर्मोऽयं निवृत्त्यात्मेति केचन ॥२१॥

दूसरों का कहना है कि हिंसा आदि प्राप्त होने पर उससे निवृत्त होना ही अहिंसारूपी धर्म है। यह निवृत्ति धर्म कहलाता है ॥२१॥

कायेन मनसा वाचा सकलैरिन्द्रियैरपि ।
अक्लेशकरणं पुंसामहिंसामब्रुवन् बुधाः ॥२२॥

हिंसा मात्र निवृत्ति ही अहिंसा नहीं, किन्तु किसी को भी किसी भी प्रकार से—शरीर वाणी मन इन्द्रियों से क्लेश न देना अहिंसा है, ऐसे विद्वान लोग व्याख्या करते हैं ॥२२॥

यथाबुद्धार्थकथनं सत्यमेके प्रचक्षते ।
हितं मितं च तच्चेत्स्यात्सत्यमित्यपरे विदुः ॥२३॥

जैसा समझ में आया वैसा कहना सत्य है ऐसे कुछ लोग कहते हैं। दूसरों का कहना है, यथाबुद्ध में यह भी विशेषण जोड़ों कि वह दूसरों का हितकारी हो, मित भी हो ॥२३॥

असत्यवाङ्निवृत्तिर्हि सत्यमित्यूचिरे परे ।
न हि चारित्र्यभङ्गोऽस्ति मौनव्रतगतस्य यत् ॥२४॥

तीसरे महानुभावों का कहना है कि असत्य से निवृत्ति ही सत्य है। कोई मौनव्रत में बैठा हो और सत्य न बोला तो क्या चारित्र्य भंग हो गया? ॥२४॥

शौचं देशस्य कायस्य व्यवहारस्य कर्मणः ।
अर्थस्य मनसश्चेति बहुधा संप्रकीर्त्तितम् ॥२५॥

शौच शुचिता का कहते हैं। देश की पवित्रता, शरीर, की पवित्रता बोलचाल आदि व्यवहार की पवित्रता, कार्य की पवित्रता, धन की पवित्रता, मन की पवित्रता इन सब पर ध्यान रखना चाहिये ॥२५।

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः ।
इत्येव देशशौचं हि भगवानब्रवीद्यतः ॥२६॥

पवित्र देश में आसन रखो इत्यादि रीति गीता में देश की पवित्रता की आवश्यकता फरमायी है ॥२६॥

मृद्वारिप्रभृतश्चैव कायशौचमुदाहृतम् ।
तच्चापि शास्त्रनिकरे तत्र तत्रोपदर्शितम् ॥२७॥

मिट्टी पानी आदि से शरीर शुद्धि स्मृतियों में बहुधा वर्णित है ॥२७॥

व्यवहारस्य संशुद्धिर्दम्भकापटयवर्जनम् ।
भगवत्पादभाष्ये हि तथा व्यख्योपलभ्यते ॥२८॥

दम्भकपटादि का न होना ही व्यवहार शुद्धि गीता शांकर भाष्य में बतायी है ॥२८॥

योऽर्थे शुचिः स हि शुचिर्न मृद्वारिशुचिः शुचिः ।
इत्यर्थशुद्धेर्महिमा दर्शितो भारतादिषु ॥२९॥

जो धन में पवित्र है वही पवित्र है। मिट्टीपानी से क्या पवित्रता है? इस प्रकार महाभारतादि में अर्थ शौचकी महिमा का वर्णन है ॥२९॥

रागद्वेषादिराहित्यं मनसः शौचमुच्यते ।
तदेव मुख्यमिति च कोचित्प्राज्ञाः प्रचक्षते ॥३०॥

मन शुद्धि का अर्थ है राग द्वेषादि राहित्य । यही मुख्य शौच है ऐसे कुछ विद्वान कहते हैं ॥३०॥

परदुःखप्रहाणेच्छा दयेति विनिगद्यते।
दया भगवदंशेषु प्राणिमात्रेषु शस्यते ॥३१॥
*यथा सर्वेषु भूतेषु सर्वव्यापी जगद्गुरुः।
विष्णुरेव तथा सर्वे जीवन्त्वेते पुरोहिताः* ॥३२॥

दूसरों के दुःख को हटाने की तीव्र इच्छा ही दया कहलाती है। भगवदंश होने से प्राणिमात्र में दया करना उत्तम हैं। यही बात "यथा सर्वेषु भूतेषु" इत्यादि प्रार्थना में स्पष्ट है ॥३०–३१॥

ईश्वरास्तित्वविश्वासः परलोकास्तितामतिः।
वेदशास्त्रादिसत्यत्वमतिश्चास्तिकता मता ॥३३॥

ईश्वर में विश्वास, परलोक में विश्वास एवं वेदशास्त्रों में विश्वास य सभी आस्तिकता ही है ॥३३॥

ननु रुद्रादयो नाना तल्लोका अप्यनेकधा।
पृथक् शैवादिशास्त्राणि विश्वासः सर्वथा कथम् ॥३४॥

पूर्वपक्ष उठता है कि इन तीनों में सर्वथा विश्वास कैसे करें? क्योंकि कहीं शिव को कहीं विष्णु आदि को मुख्य ईश्वर बताया है। शिवलोक विष्णुलोकादि परलोक में भी विवाद है। शिवपुराण विष्णुपुराण आदि भी विरुद्धार्थ प्रतिपादक हैं ॥३४॥

उच्यते सद्गुरोः प्राप्तस्वीयमार्गेण गच्छताम्।
अन्याशयानभिज्ञत्वे का चिन्ता खलु जायताम् ॥३५॥

उत्तर है—सद्गुरु से प्राप्त अपने मार्ग से जाइये। अन्य आशय न समझ में आया तो कोई हानि नहीं हैं। :हां सद्गुरु अवश्य हो। (सभी शास्त्रों का तत्पर्य अविरोधेन अन्यत्र समझाया गया है। वह समझ में न आया हो तो आशय इसका अवश्य होगा इतना कहकर अपने मार्ग से चलते जाना चाहिये) ॥३५॥

ये पुनः पाण्डितंमन्याः शैवशास्त्रादिनिन्दकाः ।
उपेक्ष्या एव ते नूनं श्रेयः स्वमभिवाञ्छताम् ॥३६॥

अपने को पण्डित मानने वाले कई लोग शिवपुराणादि की निन्दा करते हैं या नीचा दिखाते हैं, खण्डन में लगे रहते हैं। वे आचार्य पदवीधारी भी भले क्यों न हों, यदि अपना श्रेय चाहते हैं तो उनकी उपेक्षा कर लेना चाहिये ॥३६॥

अष्टादशपुराणानि व्यासो नारायणो जगौ ।
उद्दिधीर्षुर्जगत्तेषां संख्या भागवते स्थिता ॥३७॥

जगत के उद्धरार्थ अठारह पुराणों को नारायणावतार व्यास ने ही कहा। भागवत के अन्तिम अध्याय में इनकी संख्या भी बतायी है। अतः इनकी प्रमाणिकता में कोई संशय न होना चाहिये ॥३७॥

परितः सर्वथेत्येतत् पालनीयान्यमूनि हि ।
पञ्चानामतिवैशिष्ट्यान्नामग्रहणमादधात् ॥३८॥

सूत्र में परिपालनीय बताया। परि का परितः—सर्व प्रकार से सर्वथा यह अर्थ है। पांच की गणना इनकी अतिविशिष्टता से की गयी ॥३८॥

ननु नाममहिम्नैव सर्वदोषविनिर्हृतौ ।
कुतः स्यात्परिपाल्यत्वमेतेषामिति चेन्न तत् ॥३९॥

नामादि महिमा से ही सर्वदोष निवृत्ति होने से इनका पालन करो, ऐसी विधि क्यो है ? इसका उत्तर सुनो ॥३९॥

हिंसादिजनितोद्भूतदोषावरणहेतुतः ।
भस्मावृताग्निवन्नाम समर्थमसमर्थवत् ॥४०॥

हिंसादि से उत्पन्न दोषों से आवृत होने के कारण राख से आवृत अग्नि के समान समर्थ भी नामादि असमर्थ हो जाता है ।४०।

मुचुकुन्दस्य दृष्टान्तः प्रागस्माभिः प्रदर्शितः ।
अतो दोषनिवृत्त्यादिहेतोरेष विधिः कृतः ॥४१॥

मुचुकुन्द का दृष्टान्त हम पहले कह आये हैं। अतः दोष-निवृत्ति पवित्रता आदि के लिए अहिंसादि का यह विधान किया गया है ॥४१॥

ननु कृष्णोन्मुखं यान्ति यमाः शौचादयः स्वयम् ।
इत्यतः परिपाल्यत्वविधिर्नैव समञ्जसः ॥४२॥

शास्त्रों में बताया है कि कृष्णोन्मुख भक्त के प्रति शौचादि यम स्वयमेव आ जाते हैं। तब यह परिपालन विधि व्यर्थ है। क्योंकि अप्राप्त को प्राप्त करना ही विधि का मतलब है ॥४२॥

***एते नह्यद्भुता व्याध तवाहिंसादयो गुणाः ।**
हरिभक्तौ प्रवृत्ता ये न ते स्युः परतापिनः* ॥४३॥

हे व्याध ! तुझमें यह अहिंसादि गुण (विरुद्ध होने पर भी) आश्चर्यकारी नहीं है, क्योंकि जो हरि भक्ति में प्रवृत्त हैं वे पर-संतापकारी नहीं होते ॥४३॥

***अन्तःशुद्धिर्बहिःशुद्धिस्तपः शान्त्यादयस्तथा ।**
अमी गुणाः प्रपद्यन्ते हरिसेवाभिकामिनाम् * ॥४४॥

अन्दर शुद्धि, बाह्यशुद्धि, तप, शान्ति आदि ये गुण हरि सेवा चाहनेवालों के पास शरणागत जैसे पहुँच जाते हैं ॥४४॥

इति स्कान्दादिवचनात्स्वयमेवोपगच्छताम् ।
अहिंसादिगुणानां न युक्त आनयने विधिः ॥४५॥

इस प्रकार स्कन्दपुराणादि में बतलाया है। जो स्वयं शरणागतरूप में आ रहे हैं उनके आनयन को यह विधि युक्त प्रतीत नहीं होती ॥४५॥

अत्र ब्रूमः प्रपद्यन्तां सिद्धमेते महागुणाः ।
साधकस्य ततः किं स्यात्तस्मात्साधोरयं विधिः ॥४६॥

इसका उत्तर यह है कि सिद्ध पुरुष भक्त के पास ये सब भले स्वयं आवे किन्तु उससे साधक का क्या होगा। अतः साधक के लिए विधि उपयुक्त है ॥४६॥

ननु प्रवृत्तशब्दादप्यभिकामिपदादपि ।
साधकस्योक्तमेतच्चेन्न भावानवबोधतः ॥४७॥

'हरिभक्तौ प्रवृत्ता' 'हरिसेवाभिकादिनां' इन पदों से साधक की प्रतीति होती है इस शंका का समाधान है कि आपने भाव नहीं समझा ॥४७॥

भक्तिः प्रेमा तत्प्रवृत्ता लब्धप्रमाण एव ते ।
प्रतिक्षणं वर्धमानं प्रेम लब्धमवोचि हि ॥४८॥
अभिकामपदे चाभिरन्यकामनिवर्त्तकः ।
गुणप्रपत्तिर्युक्तास्य न तु कामवतामिह ॥४९॥

हरिभक्ति में प्रवृत्त का अर्थ है भक्ति अर्थात् प्रेम में प्रवृत्त। फलतः प्रेम प्रारम्भ हो गया है। तब तो वह प्रतिक्षण बढ़ेगा ही। इसी प्रकार अभिकामी में अभिउपसर्ग है। हरिसेवा में अभितः काम का है अर्थ अन्य कामना नहीं है। क्या आप भी इसी प्रकार सर्वकाम वर्जित है? प्राप्तप्रेमा है? ॥४८-४९॥

प्रत्यक्षेणैव दृश्यन्ते हिंसाकामादयो हृदि
तत्र स्वतो गुणायानप्रत्याशा का तवोदिता　　॥५०॥

प्रत्यक्ष ही मन में हिंसा कामादि भावना घेरी हुई दींख रही है। वहां स्वतः गुणों के आगमन कीं आशा दुराशा ही मानी जायेगी।　॥५०॥

यत्नेन परिपाल्यानि चारित्र्याण्युदितान्यतः।
तत एव परं प्रेम प्रादुर्भवति धीमताम्　　॥५१॥

ॐ

इस लिये पूर्वोक्त चारित्र्यों का यत्नपूर्वक पालन करना ही चाहोये : उसी से परम प्रेमका प्रादुर्भाव होगा ॥५१॥

ॐ

संक्षेपादेव भक्त्यङ्गमुक्त्वा चारित्र्यलक्षणम् ।
कर्तव्यं शास्त्रनिष्कर्षस्वरूपमधुनोच्यते

अहिंसादि चारित्र्यपरिपालनरुपी भक्तिअङ्ग को संक्षेपसे समझा कर अब शास्त्र के निचोड के रूपमें कर्त्तव्य का निर्देश कर रहे है ॥१॥

सर्वदा सर्वभावेन निश्चिन्तितै-र्भगवानेव भजनीयः ॥७९॥

सदैव सर्वभाव से निश्चिन्त हो भगवान का ही भजन करते रहना चाहिये ७६

क्षणार्धमपि न व्यर्थं नेयं; किं तर्हि ? तच्छृणु
सर्वदा भगवानेव भजनीयः प्रतीक्षिभिः　　॥२॥

सूत्र में सर्वदा लिखने का अभिप्राय है कि "क्षणार्धमपि व्यर्थं न नेयं" ऐसा पहले कहा था। वह कैसे होगा? जब सर्वदा भगवद्भजननिरत हो ॥२॥

सेवनीयः स भगवान्नित्यमाराधनादिभिः ।
साधनापथगैः सद्भिः शास्त्रनिष्कर्ष एष हि ॥३॥

"भजनीयः" का प्रेमलक्षणभक्तिविषयीकर्त्तव्यः इतना अर्थ तो बाद में भले हो, किन्तु साधकावस्था में आराधनादि से सेवा करे यही अर्थ है। "भज सेवायाम्" सद्भाव से साधना मार्गस्थित होकर यही करो यही शास्त्र निष्कर्ष है। ॥३॥

अथ मां सर्वभूतेषु भूतात्मानं कृतालयम् ।
अर्हयेद्दानमानाभ्यां मैत्र्याभिन्नेन चक्षुषा ॥५॥

भगवदाराधना भी समस्त प्राणियोमें स्थित भगवान की दान, मान, मैत्री एवं अभेद दृष्टि से आगे बढाते जाना चाहिये ॥५॥

आराधनादिकं भक्तिबीजमित्युच्यते बुधैः ।
अङ्कुरीभवति प्रेम क्रमेणैव ततः परम् ॥५॥

तदा निरन्तर प्रेम विष्णौ कार्यं तदङ्कुरंत् ।
आहृत्येतरतः सर्वं शास्त्रसारः स एष हि ॥६॥

भजनीयः का यह प्रथम अर्थ हुआ। इस के बाद आराधनादि भक्ति बीज होने से उस से प्रेम अङ्कुरित होगा। तब उस प्रेम को पुत्र दारादि से हटा कर केवल भगवान में ही करे, यही शास्त्र सार है ॥ ॥५ – ६॥

भावो हृदयगः कश्चित् प्रकारो वासनात्मकः ।
प्रेम प्राग् वर्णितं सम्यग् भजनं तदिहेर्यते ॥७॥

सर्व भावेन यहां भाव हृदयस्थित एक प्रकारकी वासना को कहते है। और प्रेम का वर्णन पहले आ गया है वहीं "भजनीयः" में भक्ति पदका अर्थ है ॥६॥

सम्यङ्मसृणितस्वान्तो ममत्वातिशयाङ्कितः ।
भावः स एव सान्द्रात्मा प्रेमेत्येके प्रचक्षते ॥८॥

कुछ विद्वान कहते हैं कि हृदय मुलायम हो अतिशय ममत्व हो तो वह भाव कहलाता है, घनीभूत भाव ही प्रेम कहलाता है ॥८

तच्चिन्त्यं राजदासादौ दास्यभावे घनेऽपि हि ।
नैव चित्तं मसृणितं तदीयमुपलभ्यते ॥९॥

पुत्रात्प्रेय इतिश्रुत्या परं प्रेमात्मनीरितम् ।
न तत्र चित्तमासृण्यं ममत्वातिशयोऽपि वा ॥१०॥

परंतु यह लक्षण चिन्त्य जैसा है। राजा के दासों में दासभाव अतिघन देखने में आता है। किन्तु वहाँ चित्त का मसृणन कहां है? श्रुति में आत्माको परम प्रेमास्पद बताया है। वहां ममत्व कहां है ॥९-१०॥

कृष्णोऽहमिति जल्पन्त्यो गोप्यो या विरहातुराः ।
ममत्वे तासु नष्टेऽपि परम प्रेम वीक्षितम् ॥११॥

रास प्रसङ्ग में "कृष्णोऽहं" इस प्रकार विरहातुर गोपियां बोलने लगी थी। 'अहं' होने पर ममता गायब हो गयी तो क्या प्रेम भी गायब हो गया? ॥११॥

अनिर्वाच्यमतः प्रेमस्वरूपं प्रागुदीरितम् ।
भावश्च शान्तदास्यादि पञ्चकान्यतमो मतः ॥१२॥

इसीलिये पहले नारदजीने ही प्रेम स्वरूप को अनिर्वचनीय बताया था। शान्त दास्यादि पांचो में अन्यतम यही भाव का भी लक्षण है ॥१२॥

शान्तं दास्यं च सख्यं च वात्सल्यं मधुरं तथा ।
पञ्च भावा इमे प्रोक्ता भक्तस्वाभाव्यभेदतः ॥१३॥

शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और माधुर्य ये पांच भाव हैं। भक्तोंके स्वभाव भेद से इस प्रकार ये विभक्त हैं ॥१३॥

एते पुनः पञ्च भावाः सर्वानुभवसाक्षिकाः ।
तत्तदन्यतमत्वं हि भावलक्षणमिष्यते ॥१४॥

ये पांच भाव सर्वानुभवविषय हैं। अतः इनमें अन्यतम जो वही भाव है ऐसा भाव का लक्षण सुगम है ॥१४॥

परमात्मा जगज्जन्मस्थेमसंस्थानकृद् विभुः ।
स नो रक्षत्वयं भावो मुनीनां शान्तलक्षणः ॥१५॥

परमात्मा विभु है, व्यापक है, जगत् की उत्पत्ति स्थिति एवं संहार करनेवाला है, दयालु है, वह हमारी रक्षा करें। ऋषिमुनियों में इस प्रकार का शान्त भाव होता है ॥१५॥

स प्रभुस्तस्य दासोऽस्मि सेवे तच्चरणौ सदा ।
दास्यमेतद् भवेन्मारुत्युद्धवादौ स्फुटोक्षितः ॥१६॥

भगवान प्रभु है, मैं दास हूं, उनके चरणोंकी सदा मैं सेवा करूं यह दास्यभाव है, हनुमानजी उद्धवजी आदि में यह स्पष्ट दृश्य है।१६

सखाऽयं सह गच्छामि सह भुञ्जे शये सह।
सख्यं तद्गोपबालादौ पार्थादौ च स्फुटस्थितम् ॥१७॥

सख्य भाव हैं यह मेरे सखा है, साथ चलें, साथ खायें, साथ सोयें इत्यादि जो गोपबाल एवं अर्जुनादि में स्पष्टस्थित है ॥१७॥

लालये शिशुमुन्मुग्धं पालये भोजये हरिम्।
वात्सल्यं तत्स्फुटं नन्द-यशोदादिषु वीक्षितम् ।१८॥

मुग्ध बाल मुकुन्द का लालन पालन करुं, खिलाऊं, पिलाऊं इत्यादि वात्सल्य भाव है, जो नन्दराय यशोदा आदि में स्पष्ट देखा गया है ॥१९॥

कान्तः स मधुरस्मेरमनोहरमुखाम्बुजः।
इति माधुर्यभावश्च राधाभैम्यादिषु स्फुटः ॥१९॥

मधुर मन्द स्मित मनोहरवदनाम्बुज वह भगवान मेरे प्राणनाथ हैं। ऐसा माधुर्य भाव राधा रुक्मिणी आदि में स्पष्ट है ॥१९॥

शान्तदास्ये भवेतां द्वौ भावौ साधारणे जने।
अप्रत्यक्षे कथं सख्यप्रभृतिर्घटतामिति ॥२०॥

अत्राहु : पार्थनन्दादिराधिकाद्यनुचिन्तनात्।
तच्चित्त लम्बनत्वेन स्वचित्तं तादृशं भवेत् ॥२१॥

इन में शान्त एवं दास्य तो सर्वसाधारण है॥ किन्तु हरि अप्रत्यक्ष होनेसे सख्यादि कैसे हो ? उत्तर यह देते हैं कि अर्जुन नन्दराय राधिका आदिका अनुस्मरण करते करते उनके चित्तके आलम्बन से अपना चित्त भी वैसा बन जाता है तो वैसा ही भावोदय होता है ॥२०॥

अथ वात्र पिता पुत्रः सुहृद् बन्धुरितीदृशः ।
भावाः स्युः सर्वभावैस्तैर्भजनीयो हरिः सदा ॥२२॥

आपेक्षिकं च सर्वत्वमिह सर्वपदास्पदम् ।
स्वस्थिताः संभवन्तो ये भावास्तैः सकलैरिति ॥२३॥

अथवा यहां सूत्र में पिता पुत्र मित्र वन्धु आदि भावोंका ग्रहण है ।। इन भावों से हरि भजन करो। उस में भी अपने में संभव सभी भावों से, यही अर्थ है, न कि संसार भरके सब भावों से ऐसा अर्थ है ।।२२-२३।।

अथ वा भावना भावः प्रेमापि विनिगद्यते ।
सर्वेति सम्यक् प्रेम्णा स भजनीयः सदा हरिः ॥२४॥

अथवा यहां भाव का भावना अर्थात प्रेम भी अर्थ लिया जा सकता है। सर्व भाव अर्थात सम्यक प्रेम से हरिका भजन करो यह अर्थ है। इस लिये भावेन एकवचन है ।।२४।।

निर्गतं चिन्तितं चिन्ता येभ्यो निश्चिन्तितास्तथा ।
चिन्ताविरहितैः सेव्यो हरिरित्येतदुच्यते ॥२५॥

सूत्रमें निश्चिन्तित का अर्थ है चिन्ता रहित। चिन्ता छोड़ कर हरि भजो ।।२५।।

का चिन्ता जीवने स्वस्य यदि विश्वंभरो हरिः
जीवनाय शिशोर्यो हि स्तन्यं मातुरदीधरत् ॥२६॥

"का चिन्ता मम जीवने" इत्यादि श्लोक मैं बताया है कि हरि विश्वंभर है, विश्व रक्षक है, तब मुझे अपने जीवन में क्या चिन्ता। तभी तो बालक के पैदा होते ही माता के स्तनों सें दूध झरने लगा ।।२६।।

चिन्ता चितासमानैव बिन्दुमात्रविलक्षणा।
चिता मृतं हि दहति चिन्ता जीवितमेव च ॥२७॥

चिन्ता और चिता एक बराबर है। एक बिंदुका ही फरक है। परंतु चिता मुर्देको जलाती है तो चिंता जिंदेको ॥२७॥

न चापराधचिन्ता स्यादिति वाच्यं यतो हरिः।
निवेदिनां क्षमेतासावपराधान्महीयसः ॥२८॥

क्या अपराध होने की भी चिन्ता न करे? आत्मनिवेदन करने पर भगवान बड़ बड़ अपराधों को भी क्षमा कर देते हैं २८

अपराधसहस्राणि क्रियन्तेऽहर्निशं मया।
दासोऽहमिति मां मत्वा क्षमस्व परमेश्वर ॥२९॥

सहस्रों अपराध दिन रात करते हैं। उन्हें दास समझ कर हे भगवान, क्षमा करो। (यही उपाय संभव भी है) ॥२९॥

कन्या समर्प्य शक्ते स्वं निश्चिन्ता जायते वरे।
न ज्ञातेर्न पितुर्मातुर्लोकाद्वपि बिभेति सा ॥३०॥
हरौ समर्प्य निश्चिन्ता रुक्मिणी समभूत्पुरा।
तथा सन्तोऽपि निश्चिन्ता हरौ निजसमर्पणात् ॥३१॥

कन्या अपने समर्थ पतिमें अपने को समर्पित करती है तो फिर वह माता, पिता ज्ञातिवाले बन्धु वर्ग एवं दुनियासे भी भीत नही होती। रुक्मिणी भी कृष्ण पर भार छोड कर निश्चिन्त हो गयी। वैसे संत लोग हरि में आत्मसमर्पण कर निश्चिन्त हो जाते है। ॥३०-३१॥

अथवा चिन्तिताः पूर्वं पुत्रदारादयो हि ये ।
निष्क्रान्तास्ते तु येभ्यस्ते प्रोक्ता निश्चिन्तिता इह ॥३२॥

अथवा निश्चिन्तित का यह भी अर्थ संभव है : कि संन्यासी होने से पूर्व चिन्तित पुत्रदारादि सभी निर्गत हुए ॥३२॥

सर्वमेव हरेरेतत्पुत्रदारधनादिकम् ।
इति निश्चिन्तिता वा स्युर्हरौ सर्वसमर्पणात् ॥३३॥

गृहस्थ हो तो पुत्रदारधनादि समस्त चिन्तित वस्तु को हरि समर्पण करने से वे निश्चिन्तित कहलाते हैं ३३

मिथ्याभूतं जगत्सर्वं सत्यः स भगवान् हरिः ।
इति चिन्तितबाधाद्वा प्रोक्ता निश्चिन्तिता बुधाः ॥३४॥

अथवा जगत् मिथ्या है, एक मात्र सत्य हरि है। इस कारण चिन्तितं जगत् का बाध होने से भी ज्ञानी लोग निश्चिन्तित कहलाते हैं ॥३४॥

यद्वा सर्वा जीवसृष्टिर्यद्यच्चिन्तनगोचरम् ।
निश्चिन्तिता इह ततो जीवसृष्टिविवर्जिताः ॥३५॥

अथवा जो जो चिन्तन का विषय होगा वह सभी जीवसृष्टि ही होगी। जीवसृष्टि रहित ही यहां निश्चिन्तित का अर्थ है ३५

न चिन्ताविषयः कृष्णः चिन्त्यः प्रेमास्पदत्वतः ।
*** यतो वाचो निवर्त्तन्ते ह्यप्राप्य मनसा सह * ॥३६।**

संशय होगा कि श्रीकृष्ण भी तो चिन्तित होगा। नहीं होगा। क्यों कि श्रुति कहती है कि वहां तक मन और वाणीकी पहुँच नहीं है। फिर भगवच्चिन्तन का क्या मतलब? भगवान् चिन्त्य कैसे ? अचिन्त्य का ही चिन्तन है। प्रेम अपूर्व है। भगवान् प्रेमास्पद है। अत: चिन्त्य कहलाते हैं, मनोविषय होने से नहीं ॥३६॥

मोहात्मचिन्ताविषयवर्जनस्यात्र कीर्तनात् ।
समोहविषयत्याग एवात्रर्षिविवक्षितः ॥३७॥

वस्तुत: मोहरूपी चिन्तन के विषय का त्याग यहां बताया जा रहा है। अर्थात समोह विषय त्याग ही नारदजीको यहां विवक्षित है ॥३७॥

भजनीयः सेवनीयश्चक्षुरादिभिरिन्द्रियैः ।
मनसा चात्मना चैव पूजनीयश्च नित्यशः ॥३८॥

सूत्र में भजनीय का अर्थ सामान्यत: सेवनीय है। किस से सेवन करो ? नेत्रादि इन्द्रियों से मन से और आत्मा से। पूजनीय भी अर्थ है। भगवान् का पूजन नित्य करो ॥३८॥

को नु राजन्निन्द्रियवान्मुकुन्दचरणाम्बुजम् ।
न भजेत्सर्वतोमृत्युरुपास्यममरोत्तमैः ॥३९॥

उक्त अर्थ में "को नु राजन्" यह भागवत श्लोक ही प्रमाण है। हे राजन् कौन ऐसा इन्द्रियवाला अभागा पुरुष होगा जो देवों के उपास्य मुकुन्दचरणकमलों का भजन न करे। यहां इन्द्रियवान न भजेत्-से इन्द्रियों से सेवन अर्थ ध्वनित होता है ॥३९॥

इत्थं क्रमेण परमप्रेमगोचरतामपि
हरेः संपाद येदेतद्वेरत्राभिधित्सितम् ॥४०॥

सेवा पूजादि क्रम से 'भज' धातु का मुख्यार्थ परम प्रेम का विषय हरि को वनाना, यह भो यहां पर देवर्षि नारदजी को अभिप्रेत है ॥४०॥

को नाम सर्वभावेन भजतीत्येतदुत्तरम्
उत्तरस्मिन् प्रवक्ष्यामः सूत्रे देवर्षिलाक्षितम् ॥४१॥

ॐ

कौन सर्व भाव से भजन करता है इसका उत्तर उत्तर सूत्रमें मिलेगा ॥४१॥

ॐ

भजनेऽपि च यन्मुख्यं सुलभं सुकरं च यत्
तन्निर्दिशन् हि तस्याह प्रभावं भगवानृषिः ॥१॥

भजनीय का प्रथम अर्थ इन्द्रियों से सेवनीय बताया। उसमें भी मुख्य सुलभ एवं सुकर अब यहां बताने जा रहे हैं। अर्थात इन्द्रियों में वागिन्द्रिय से कीर्त्तनात्मक सेवन अति सुगम है। अतः उसे बताने जा रहे हैं और साथ ही उसका प्रभाव भी कह रहे हैं १

स कीर्त्यमानः शीघ्रमेवाविर्भवति अनुभावयाति च भक्तान् ॥८०॥

कीर्तन करते रहने से भगवान् शीघ्र ही आविर्भूत होकर भक्तों को अनुभव कराते हैं ।८०।

यशोऽनुवर्णनं विष्णोः कीर्तनं परिकीर्तितम्
कीर्तिशब्दः प्रसिद्धोऽसौ तथार्थानुगमाद् भवेत् ।।२।।

विष्णुके कीर्तन का अर्थ है यश का गायन करना । इसी अर्थके अनुगमन से 'कीर्त्ति' शब्द का अर्थ यश प्रसिद्ध हुआ ।।२।।

नामसंकीर्तनमपि यशोवर्णनमेव नः
गौणानि किल नामानि विष्णोः शान्तनवो जगौ ।।३।।

गुणप्रयुक्तनाम्नानि गौणानीति जगुर्बुधाः
सहस्रनाम्नि दृश्यन्ते विष्णुकृष्णादयः किल ।।४।।

नाम संकीर्तन भी यशो वर्णन ही है । क्यों कि भगवान के नाम गौण है ऐसा सहस्रनामस्तोत्र में प्रथम भोष्मपितामह ने कहा है । "यानि नामानि गौणानि" । गौणानि का अर्थ है-गुण प्रयुक्त नाम । उन्हीं नामों में विष्णु कृष्ण आदि सभी नाम आ जाते हैं ।

अर्थबोधादृते यत्र नाम्नामुच्चारणं भवेत् ।
कीर्त्तनं तदपि प्रोक्तं तत्साफल्यादजामिले ।।५।।

अर्थ बोध न होने पर यशो वर्णन तो नहीं माना जायेगा, नाम गौण भी नहीं माना जायेगा, फ़िर भी वैसा नामोच्चारण भी कीर्तन ही है । क्यों कि अजामिल में उसकी भी सफलता देखनेमें आयी है ।।५।।

*** एतन्निर्विद्यमानानामिच्छतामकुतोभयम् ।**
योगिनां नृप निर्णीतं हरेर्नामानुकीर्त्तनम् * ।।६।।

❀नामचिन्तामणिः कृष्णचैतन्यरसविग्रहः ।
पूर्णः शुद्धो नित्यमुक्तोऽभिन्नत्वान्नामनामिनोः❀ ॥७॥
❀गीत्वा तु मम नामानि विचरेन्मम संनिधौ ।
इति ब्रवीमि ते सत्यं क्रीतोऽहं तस्य चार्जुन❀ ॥८॥
❀यस्य स्मृत्या च नामोक्त्या तपोयज्ञक्रियादिषु ।
न्यूनं संपूर्णतां याति सद्यो वन्दे तमच्युतम्❀ ॥९॥
❀सकृदुच्चरितो येन हरिरित्यक्षरद्वयम् ।
बद्धः परिकरस्तेन मोक्षाय गमनं प्रति❀ ॥१०॥
❀धर्माणामुत्तमो धर्मो नामसंकीर्त्तनं हरेः ।
अनपायितया सर्वदेशकालाधिकारतः❀ ॥११॥
❀सर्वैश्वर्यप्रदं मन्त्रं भवाग्नेः स्तम्भनं तथा ।
हास्यात्कृष्णेति यो ब्रूयाद् दद्यादस्मै ततोऽभयम्❀॥१२॥
❀अहर्निशं स्मरन्नाम कृष्णं पश्यति चक्षुषा ।
नामैव शीलयन्तो हि संसिद्धाः सनकादयः❀ ॥१३॥
❀संसारसर्पसन्दष्टनष्टचेष्टैकभेषजम् ।
कृष्णेति वैष्णवं मन्त्रमुक्त्वा मुक्तो भवेन्नरः❀ ॥१४॥
❀तापत्रयाभितप्तानां तृष्णयाऽभिहतात्मनाम् ।
नारायणेति मन्त्रोऽयं संसारार्णवतारकः❀ ॥१५॥
❀अपहाय हरेर्नाम घोरसंसारभेषजम् ।
आत्मनो लभते मुक्तिं केनोपायेन पण्डितः❀ ॥१६॥
❀संसारचक्रे भ्रमतः सर्वदुःखभयात्मके
उपासनं हरेर्नामकीर्त्तनं वा विमुक्तिदम्❀ ॥१७॥

* विसृज्य लज्जां योऽधीते मन्नामानि निरन्तरम् ।
कुलकोटिसमायुक्तो लभते मामकं पदम् * ॥१८॥

इत्यादिषु स्वरूपेण नामोच्चारणमीरितम् ।
न तु गौणस्वरूपेण तस्मात्तदपि कीर्त्तनम् ॥१९॥

नाम लौकिकरूपणे शब्दात्मकमपि स्वयम् ।
अलौकिकेन रूपेण प्रेम प्रागेव वर्णितम् ॥२०॥

"एतन्निर्विद्यमानानां" इत्यादि हजारों शास्त्रवचनों में स्वरूपतः नामोच्चारण को ही बताया है। गौणत्वेन रुपेण नहीं। अन्यथा 'हरेः कीर्त्तनं' इतना कहने से हीं हरिके यशका वर्णन अर्थ लिकलने से नाम यशोवर्णनात्मक होने से पुनः नाम पद जोड़कर 'नामानुकीर्त्तनं' ऐसा कहना व्यर्थ हो जाता। कृष्ण नारायण आदि नाम लौकिकरूप से भले शब्द हो, किन्तु अलौकिकरूप से वह प्रेमात्मक ही है, यह बात हम तृतीय सूत्र की व्याख्या में ही कह आये हैं, अतः पुनः यहाँ कहने की अपेक्षा नहीं है ॥६-२०॥

कीर्त्तनं गौणरूपेण स्वरूपेणाथवा भवेत् ।
नाम्नां तत्सर्वफलदं नात्र कार्या विचारणा ॥२१॥

नामों का कीर्त्तनगौण (गुण प्रयुक्त) रूप से हो चाहे स्वरूप से, सर्व फलदायी है, इस में संशय करना नहीं है ॥२१॥

कृतसंशब्दनेधातोः कीर्त्यमानस्तु शानचि ।
संभूय शब्दनं चापि कीर्त्तनेन विवक्षितम् ॥२२॥

"कृत संशब्दने" ऐसा धातु पाठ है। संमिलित होकर भगवद्गुण गान करना भी उस का अर्थ है। वह भी यहां ग्राह्य है ॥२२॥

तन्नामलीलाचरितगुणरूपादिकीर्त्तनम् ।
श्रीमद्भागवताद्युक्तिरप्यत्र परिगृह्यते ॥२३॥

नामकीर्त्तन, लीलाकीर्त्तन, चरित्रकीर्त्तन, गुणकीर्त्तन, महिमा कीर्त्तन इत्यादि सभी कीर्त्तन ही है। अर्थात् श्रीमद्भागवतादिकथन में ये सभी आते हैं, अतः भागवतादि पाठ वार्तादि भी कीर्त्तन ही समझना चाहिये ॥२३॥

यदि नाम जपालस्यं संशब्दनमुपेयताम् ।
उच्यन्तां हरिगाथा वा भवत्वहो समुच्चयः ॥२४॥

नाम जप करना या संमिलित कीर्त्तन करना या हरिकथा करना इस में कोई नियम नही। नाम जप में आलस्य हो तो कीर्त्तन कीजिये हरिकथा सुनिये। हो सके तो सभी कीजिये ॥२४॥

तथापि मुख्यरूपेण हरिसंकीर्त्तनं मतम् ।
तत्रैव मुख्यवृत्तिर्हि कीर्त्तनस्यावलोक्यते ॥२५॥

फिर भी मुख्यरूप से हरि कीर्त्तन ही यहां विवक्षित है। क्यों कि कीर्त्तन शब्दका वही मुख्यार्थ है ॥२५॥

*** देवदत्तामिमां वीणां स्वरब्रह्मविभूषिताम् ।**
मूर्च्छयित्वा हरिकथां गायमानश्चराम्यहम् ॥२६॥

प्रगायतः स्ववीर्याणि तीर्थपादः प्रियश्रवाः
आहूत इव मे शीघ्रं दर्शनं याति चेतसि * ॥२७॥

इत्युक्तं दर्शनं विष्णोर्निजानुभवगोचरम् ।
व्यासाय यत्तदत्रापि निजगादेति गम्यते ॥२८॥

नारदजीने स्वयं व्यास को जो बताया-भगवद्दत्त स्वर ब्रह्म भूषित इस वीणा को बजा कर हरिकथा गाता हुआ मैं विचरण करता हूं। अपने यशके गायन से भगवान् प्रसन्न हो कर बुलाये जैसे आकर मेरे चित्त में दर्शन देते हैं। यही बात यहाँ पर बतायी है, ऐसा लगता है ॥२६-२८॥

अस्वरं सस्वरं वापि भगवत्कीर्त्तनं चरेत् ।
अत्र स्यान्निजनैपुण्यं सर्वस्यापि नियामकम् ॥२९॥

'स्वरब्रह्मविभूषितां' सुन कर ऐसा न समझें कि फिर वीणी वजाना जिसको नहीं आता उसे भगवद्दर्शन न होगा। अपना निपुणताके अनुरुप स्वर सहित या स्वर रहित कीर्त्तन करे। इतने में ही तात्पर्य है ॥२९॥

अत एव त्रिधा कैश्चिदिह पद्धतिरिता ।
वैयासकी हानुमती नारदीयेति भेदतः ॥३०॥

इसी लिये कुछ विद्वानों ने यहां तीन पद्धतियां मानी । व्यास पद्धति, हनुमान पद्धति और नारद पद्धति। व्यास या शुक की पद्धति में वाद्य नहीं है । हनुमान की पद्धति में करताल आदि है। नारद पद्धति में वीणा आदि ॥३०॥

तथैवान्ये गोपिकानां चतुर्थीमपि पद्धतिम् ।
***रुरुदुः सुस्वरं राजन्नि*ति रोदनसंयुतम् ॥३१॥**

इसी प्रकार अन्य मनीषियों ने गोपिकाओं की चतुर्थ पद्धति भी मानी है "रुरुदुः सुस्वरं रजन्" इस प्रकार रोदन सहित गोपी गीतादि गायन चतुर्थ पद्धति है ।।३१।।

सनृत्यं वा सवाद्यं वा सप्रलापं सरोदनम् ।
भाव एव प्रधानोऽत्र सर्वत्रेति तु मन्महे ।।३२।।

हमारी मान्यता यह है कि नृत्य वाद्य रोदनादि सहित हो या न हो, भाव की ही प्रधानता सर्वत्र है ।।३२।।

सर्वभावेन भगवान् भजनीय इतीरितम् ।
ततो निष्कृष्टकथनाद् भावप्राधान्यमत्र च ।।३३।।

पूर्व सूत्र में सर्वभाव से भगवान का भजन बताया, उसीमें से एक देशका निष्कर्ष कथन यहां होने से यहां भी भाव प्रधानता ही विवक्षित हैं ।।३३।।

स कीर्त्तनाच्छीघ्रमाविर्भवतीत्येव नाब्रवीत् ।
विशेषणविशिष्टाविर्भावस्यात्र विवक्षणात् ।।३४।।

'स कीर्त्यमानः शीघ्रमाविर्भवति' ऐसा क्यों कहा? स कीर्त्तना-च्छीघ्रमाविर्भवति' कहना था । उत्तर है कीर्त्यमानगुण विशिष्ट रुप से आविर्भाव अभिप्रेत होनेसे 'कीर्त्यमान' ऐसा कर्त्तृविशेषण कहा ।।३४।।

यत्कर्मा यद्‌गुणश्चैव कीर्त्यते परमेश्वरः ।
तत्कर्मा तद्‌गुणश्चैव समाविर्भवति प्रभुः ।।३५।।

जिस लीलाकर्म से जिस गुण से एवं जिन रूपादि से भगवानका कीर्त्तन होता है उसी कर्म उसी गुण एवं उसी रूपादि से भगवान आविर्भूत होते हैं ।।३५।।

इत्थं च भगवल्लीलारूपनामगुणादिकम् ।
शाश्वतं सर्वमेवापीत्येतद्देवर्षिसंमतम् ।।३६।।

तब भगवान की लीला, रूप, नाम गुणादि सभी शाश्वत हैं। ऐसा नारदजी को सम्मत सिद्ध होता है ।।३६।।

ननु नानाविधं कर्म रूपं च क्रमिकं भवेत् ।
नित्यत्वे यौगपद्यं स्यात् क्रियादौ तदसंभवः ।।३७।।

शंका यह होगी कि कर्म रूपादि नित्य हो तो एक साथ विरुद्ध नानाकर्म रुपादि होंगे। किन्तु होता है क्रमिक ।।३७।।

उच्यते तदभिव्यक्तिः क्रमिकी न तु ते तथा ।
लीलाप्रकटनं चैव क्रमिकं द्वापरादिषु ।।३८।।

समाधान यह है कि लीला कर्मादि सभी एक साथ हैं ही। तथापि उन की अभिव्यक्ति क्रमिक है। भगवत् अवतार काल में भी एक वर्ष का भगवद्रूप बारह वर्ष में नहीं दीखता। बारह वर्ष का रूप एक वर्ष में नहीं। क्रमिक ही अभिव्यक्त होता है ।।३८।।

अत एवैकसमये कश्चिन्मृद्भक्षणं हरेः ।
अपरो रासलीलादि समाधिस्थोऽनुपश्यति ।।३९।।

इसी लिये समाधिस्थ दो भक्तों में एक ही समय एक भक्त मृद्भक्षण देखता है तो दूसरा रासलीला देखता है ।।३९।।

भगवानपि ता लीलाः क्रमेणाविरभावयत् ।
योगमायामुपाश्रित्य भक्तानां रससिद्धये ॥४०॥

भगवान ने भी द्वापरान्त में जो क्रमतः लीला आविर्भूत कीं तो इसलिये कि भक्तों को रससिद्धि उसी से होती है। क्यों कि भक्तों का संस्कार वैसा बना हुआ है। योगमाया से ही वह क्रमिकता है ॥४०॥

आविर्भूतिर्द्विधा प्रोक्ता बाह्याभ्यन्तरभेदतः ।
* प्रगायतः स्ववीर्याणी * त्यत्र साभ्यन्तरोदिता ॥४१॥

द्वापरान्तादिकालेषु बाह्याविर्भूतिरीशितुः
क्वचिच्च जयदेवादेरन्तराविर्भवोपमः ॥४२॥

आविर्भाव दो प्रकार से होता है। अंदर और बाहर। नारदजी का स्मरण करते आविर्भाव अंदर होता है। द्वापरान्त में नन्द गेहादि में बहिराविर्भाव होता है। जयदेवादि भक्तों को जो प्रकट भगवद्दर्शन हुआ वह अन्तर्दर्शन सदृश है ॥४१-४२॥

जन्मक्रमिकवृद्ध्यादिर्बहिराविर्भवे भवेत् ।
क्वचिदागतिमात्रं वा ध्रुवादेरवलोकितः ॥४३॥

जन्म, क्रमिक वृद्धि आदि बाह्यविर्भाव में होता हैं। ध्रुवादि का जो आविर्भाव हुआ वह आगमन मात्राविर्भाव है ॥४३॥

प्रेमाब्धिवीचयोऽनन्ता लीलारूपादिलक्षणाः ।
आविष्करोति ताः कृष्णो भक्तानामनुकम्पया ॥४४॥

प्रेम सागर की ही ये तरंगें हैं, जो भगवान कृष्ण के रूप लीला आदि हैं। भक्तों पर अनुकंपा करने समय समय पर भगवान प्रकट करते रहते हैं ॥४४॥

आविर्भूतोऽपि नैवानुभूता दुर्योधनादिभिः ।
अनुभावयते भक्तान् करुणावरुणालयः ॥४५॥

यद्यपि भगवान द्वापरान्तादि में आवितूर्भूत हुए। किन्तु दुर्योधनादि को अनुभव नहीं हुआ। अनुभ : भ भगवान ही करुणा से करते हैं। अत: भक्तान् कहा ॥४५॥

***नाहं प्रकाशः सर्वस्य यागमायासमावृतः ।**
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम् * ॥४६॥

***योगिभिर्दृश्यते भक्त्या नाभक्त्या दृश्यते क्वचित् ।**
द्रष्टुं न शक्यो रोषाच्च मत्सराच्च जनार्दन * ॥४७॥

अत्राविर्भवतोऽप्येवाननुभूतिर्विवक्षिता ।
तत एवाभिजानातीत्यभिरत्रोपसर्जनम् ॥४८॥

गीता आदि में "नाहं प्रकाश: सर्वस्य" इत्यादि वचनों में आविर्भाव होने पर अनुभूति का अभाव बताया। अत एव 'मूढोऽयं नाभिजानाति' यहां अभि उपसर्ग है। जानाति किन्तु नाभिजानाति देखता है, पर पहचानता नहीं। अत एव सूत्र में आविर्भवति अनुभावयति इन दोनों की आवश्यता हुई ॥४६–४८॥

किंच जिज्ञासवो भक्ता मन्यन्तेऽनुभवात्मकम् ।
ज्ञानमेव परं तानप्यनुभावयतीश्वरः ॥४९॥

दूसरा भी इसका अर्थ है। वर्तमान समय में तो आविर्भाव से अतिरिक्त अनुभव की आवश्यकता भले न हो, परंतु जो जिज्ञासु भक्त हैं वे अनुभवात्मक ज्ञान को ही ब्रह्म मानते हैं। कीर्त्तनादि से वह अनुभवात्मक ज्ञान प्राप्त होता है यह अनुभावयति का अर्थ है।

ज्ञाननिष्ठा अपि ततो भजन्तु हरिमीश्वरम् ।

सततं कीर्त्तयन्तस्तं यतन्तश्च दृढव्रताः ॥५०॥

सूत्र तात्पर्य यह कि जो जिज्ञासु ज्ञाननिष्ठ हैं वे भी अनुभव ज्ञानार्थं हरि भजन करें। कैसे? हमेशा कीर्त्तनादि से यत्न करते हुए दृढ़व्रत होकर। ("सततं कीर्त्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढ़व्रताः" इस गीता श्लोक में 'मां' की जगह तं पढ़कर उसी का पाठ किया। अतः 'यतन्तः' परस्मैपद आ गया) ॥५०॥

आविर्भूतो हि भगवान् वासुदेवः परात्परः ।

अर्जुनं ग्राहयामास तत्वज्ञानं महोदयम् ॥५१॥

तीसरे प्रकार की व्याख्या है कि भगवान् आविर्भूत होकर अनुभवात्मक ज्ञान प्रदान करते हैं, जैसे आविर्भूत श्री कृष्ण ने अर्जुन को ब्रह्मानुभव कराया ॥५१॥

किं चाविर्भूय भगवान् प्रत्यभिज्ञापयेन्निजम् ।

***भक्त्या मा मभिजानाती* त्युक्तं भगवता स्वयम्॥५२॥**

चौथी व्याख्या है – अनुभावयति का प्रत्यभिज्ञा कराना अर्थ है। भगवान आविर्भूत होकर फिर 'तदेव ब्रह्म अयं' ऐसी प्रत्यभिज्ञा कराते हैं। 'भक्त्या मांमभिजानाति' इस गीता श्लोक में यही अर्थ बताया ॥५२॥

ईश्वरानुभवो नाम प्रत्यभिज्ञैव नापरः ।

तच्चागमेषु विस्पष्टं तैर्थिकैरुपवर्णितम् ॥५३॥

ब्रह्म नित्य अपरोक्ष होने से उस की पहचान प्रत्यभिज्ञा हो अनुभव है, ऐसा आगमशास्त्रों में बताया गया है ॥५३॥

आविर्भूतो हरिः प्रेमाप्याविर्भावयति प्रभुः ।
प्रेमानुभवरूपं प्रागुक्तमेव महर्षिणा ॥५४॥

पांचवी व्याख्या है-हरि आविर्भूत होकर प्रेमको प्रकट करते हैं। प्रेम लक्षण में पहले देवर्षि ने ही "अनुभवरुपं" ऐसा कहा। अत: अनुभवं प्रापयति प्रेम प्रापयति-प्रेम प्राप्त कराना यही अनुभव कराना है ॥५५॥

प्रेमात्मको हरिः साक्षादाविर्भवति कीर्त्तनात् ।
स्वयं प्रकाशरूपत्वादनुभावयति स्वकम् ॥५५॥

हरि स्वयं प्रेम स्वरूप हैं। कीर्त्तन से आविर्भूत होते हैं। आविर्भूत के अनुभव के लिये अन्य प्रकाशकी जरूरत नहीं, स्वयं प्रकाश होनेसे अनुभव कराते भी हैं। यह छठी व्याख्या है ॥५५॥

प्रेमसागररूपोऽयमाविर्भूतो हरिः स्वयम् ।
अनु पश्चाद् भावयति भक्तान् प्रेमस्वरूपिणः ॥५६॥

सातवीं व्याख्या यह हैं की आविर्भूत हरि स्वयं प्रेम सागर रूप हैं। वे हरि आविर्भूत होने के अनु:पश्चात् भक्तों को भी प्रेम रूप भावयति=बना देते है ॥५६॥

यथा नद्यः स्यन्दमाना अस्तं गच्छन्ति सागरे ।
तथा प्रेमाम्बुधौ मग्नः प्रेमरूपो भवेत्पुमान् ॥५७॥

जैसे नदियां बहती हुई समुद्ररूप होती हैं वैसे प्रेम सागर में निमग्न पुरुष भी प्रेमरूप हो ही जाता है ॥५७॥

असतः सद् गमयति कीर्त्यमानो दयाम्बुधिः ।
आविर्भूयानु पश्चात् स तद् भावयतिनोच्यते ॥५८॥

आठवीं व्याख्या है – भावं करोति भावयति–भाव माने सत् बनाते हैं यही भावयति का अर्थ है । कीर्त्तन से आविर्भूत दयालु भगवान भक्तोंको असत् से सत् भावको प्राप्त कराते हैं ॥५९॥

गमयत्यमृतं मृत्योस्तदप्युक्तं महर्षिणा ।
तमसो गमयेज्ज्योतिरनुभावयती यतः ॥५९॥

नवमी व्याख्या है–भाव प्रेम को कहते ही हैं, और उसे अमृत स्वरूपा च ऐसा पहले कहा । फ़लतः मृत्यु से अमृत प्राप्त कराते हैं, यह अर्थ निकलता है । अनुभव प्रकाश ज्योति को कहते ही हैं । अतः तम से ज्योति को प्राप्त कराते हैं । यह दसवी व्याख्या भी है ज्योति प्राप्त कराते हैं । अतः अमृत प्राप्त कराते हैं ऐसी योजना भी संभव है ॥५९॥

*** जन्ममृत्युप्रशमनं मूलाविद्याविनाशनम् ।**
कृष्णसंकीर्त्तनं विद्धि यतो नान्यद्वदाम्यहम् * ॥६०॥

'कृष्ण संकीर्त्तन जन्ममरण निवारक है, मूलाविद्या विनाशक है, अतः अन्य कुछ नहीं बताता हूँ' इस वचन में अमृतत्व प्राप्ति कराना एवं तमसो मा ज्योतिर्गमय ये दोनों फल स्पष्ट उक्तहै ॥६०॥

*** जिह्वां लब्ध्वापि यःकृष्णं कीर्त्तनीयंन कीर्त्तयत् ।**
लब्ध्वापि मोक्षनिःश्रेणिं स नारोहति दुर्मतिः * ॥६१॥

जीभ प्राप्त कर भी जो श्रीकृष्ण का कीर्त्तन नहीं करता वह मोक्ष सोपान प्राप्त कर भो चढ नही रहा ॥६१॥

इति वाक्यद्वयेऽप्येव स्फुटं श्रीकृष्णकीर्त्तनम् ।
अमृतत्वाख्यमोक्षस्य निदानमिति सूच्यते ॥६२॥

उक्त दोनों श्लोकों में श्रीकृष्ण कीर्त्तन को मोक्ष हेतु स्फुट सूचित किया है। अमृत तो मोक्ष ही को कहते हैं ॥६२॥

तथा च सच्चिदानन्दरसमात्रकलेवरम् ।
प्रेम संपद्य विमलं कृतकृत्यो भवेत् पुमान् ॥६३॥

अनुभावयति का ज्ञान प्राप्ति, प्रेम प्राप्ति, सीच्चदानन्द आदि अर्थ करने से निष्कर्ष यह निकला कि कीर्त्तन से सच्चिदानन्द रस मात्र स्वरूप निर्मल प्रेम प्राप्त कर मनुष्य कृतकृत होता है ॥६३॥

*** यो मामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम् ।**
स सर्वविद् भजति मां सर्वभावेन भारत ॥६४॥

इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयानघ ।
एतद् बुद्ध्वा बुद्धिमान् स्यात्कृतकृत्यश्च भारत* ॥६५॥

इत्येवं हरिरप्येतत् स्पष्टमाह पृथासुतम् ।
दर्शितः शास्त्रनिष्कर्षस्तेन सूत्रद्वयादिह ॥६६॥

ॐ

जो मुझ पुरुषोत्तम को असंमूढ होकर इस प्रकार जानता है उस ने सब कुछ जाना। वह सर्व भावसे मेरा भजन करता है। यह गुह्यतम शास्त्र है इसे जानकर मनुष्य कृतकृत्य होता हैं, इन गीता श्लोकों में सर्वभाव भजन कृतकृत्यता आदि शास्त्रनिष्कर्षका वर्णन है। उन्हीं का वर्णन देवर्षि ने भी यहाँ दो सूत्रों में किया ॥६४-६६॥

इति साधनतत्फलनिरूपणम्

ॐ

* योगास्त्रयो मया प्रोक्ता नृणां श्रेयोविधित्सया।
ज्ञानं कर्म च भक्तिश्च नोपायोऽन्योऽस्ति कुत्रचित् *॥१॥

इति योगत्रयस्योक्ता निःश्रेयसनिदानता।
कुतस्तु भगवानेव भजनीय इतीर्यते ॥२॥

मानवों के श्रेय के लिये मैंनें तीन योग-ज्ञान, कर्म और भक्ति बताये। अन्य कहीं भी कोई भी उपाय नहीं है। इस प्रकार जब तीन योग श्रेय के साधन बताये हैं तब "भगवानेव भजनीयः" यह अवधारण क्यों? ॥१-२॥

न चाधिकतरा कर्मज्ञानयोगेभ्य ईरिता।
फलरूपत्वतो भक्तिः पूर्वमेवेति सांप्रतम् ॥३॥

तत्र साधनरूपायाः श्रेयस्त्वानाभिधानतः।
मोक्षस्यापि फलत्वेन श्रेयस्त्वौचित्यसंभवात् ॥४॥

यद्यपि "सा तु कर्मज्ञानयोगेभ्योऽप्यधिकतरा" ऐसा :पहले ही कहा है। तथापि "फलरूपत्वात्" ऐसा उत्तर सूत्र में हतु निर्देश होने से साधन रूप भक्ति में गरीयस्त्व प्राप्त नहीं होता। दूसरी बात फ़लरूप होने से श्रेष्ठ हो तो मोक्ष भी फल रूप होने से श्रेष्ठ होना चाहिये। मोक्ष श्रेष्ठ है तो उसके साधन भी श्रेष्ठ हो हैं तब साधन भक्ति में विशेषता सिद्ध नहीं हुई और न फल भक्ति में ही विशेषता सिद्ध हुई ॥३-४॥

किं चाधिकतरा भक्तिः कयाप्यस्तु व्यपेक्षया।
साधनानामुपादाने कथं तेन नियन्त्रणम् ॥५॥

और किसी बात को लेकर भक्ति विशिष्ट भले हो, किन्तु साधना करने में उतने से नियन्त्रण कैसे ? घी अधिक अच्छा है तो लोग तेल नहीं खाते? तब भगवानेव भजनीयः यह कैसे? अतः उत्तर दिया जा रहा है ।।५।।

किं च निष्कृष्य वक्तव्यं श्रेयस्त्वमवशिष्यते ।

उपसंहाररूपेणेत्येतदत्राभिधीयते ।।६।।

और उपसंहार रूप से श्रेय के विषय में निष्कर्ष बताना बाकी है अतः यह अग्रिम सूत्र है ।।६।।

त्रिसत्यस्य भक्तिरेव गरीयसी भक्तिरेव गरीयसी ।।८१।।

त्रिसत्य की भक्ति ही श्रेष्ठ है, भक्ति ही श्रेष्ठ है ।।८१।।

त्रिषु कालेषु यः सत्यस्त्रिसत्यो हरिरुच्यते ।

***सत्यव्रतं सत्यपरं त्रिसत्यमि* ति दर्शनात् ।।७।।**

त्रिसत्य का अर्थ है – तीनों कालों में सत्य हरि। भगवान के लिये "त्रिसत्यं" ऐसा विशेषण श्रीद्भागवत में आया है ।।७।।

भूतसत्याः क्वचिद् भावि-सत्याः सुतधनादयः ।

क्वचित्संप्रतिसत्याश्च त्रिसत्यस्तु हरिः स्वयम् ।।८।।

मृत पुत्रादि भूत सत्य हैं। आगे होने वाले भावि सत्य हैं।। 'मान में जो हैं वे संप्रति सत्य हैं। त्रिसत्य तो हरि ही हैं ।।८।।

आविर्भूतितिरोभूतिशून्यं सद्रूपलक्षणम्।
भजेत नातथाभूतमित्युक्तं भवतीह तु ॥९॥

जन्म मरण रहित अथ च सद्रूप भगवान का भजन करना चाहिये। उत्पत्ति विनाश शाली का नहीं, और शून्य वादियों के शून्य का नहीं, यह यहां अभिप्राय है ॥९॥

सत्यरूपेण वर्त्तेत त्रिषु वा जाग्रदादिषु।
त्रित्वेन दर्शितेष्वाहो तुरीयत्वेन वर्त्तते ॥१०॥

सत्यं परं धीमहीति यत्परं सत्यमीरितम्
तस्य ग्रहणहेतोश्च त्रिसत्यमभिधीयते ॥११॥

त्रिसत्य का यह भी अर्थ है कि जाग्रत स्वप्न एवं सुषुप्ति इन तीन में चैतन्य सत् रूप से रहनेवाला। अथवा विश्वतैजस प्राज्ञ इन तीन में व्यापक तुरीयतत्व। अथवा "यत्र त्रिसर्गो मृषा–सत्यं परं धीमहि" त्रिसर्ग का अधिष्ठान स्वरूप परम सत्य के ग्रहणार्थ त्रिसत्य कहा ॥१०-११॥

त्रिसत्यविषया भक्तिर्गरीयस्याभिधीयते।
अतथाभूतभक्तिश्च नैव ग्राह्येति सूच्यते ॥१२॥

त्रिसत्यस्य यह षष्ठी विषयार्थक है। त्रिसत्य विषयक भक्ति उत्तम है, अन्य भक्ति ग्राह्य नहीं यह सूचित होता है ॥१२॥

*** यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति।**
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम् ॥१३॥

स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते ।
लभते च ततः कामान् मयैव विहितान् हि तान् ॥१४॥

अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम् ।
देवान् देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि* ॥१५॥

ततस्त्रिसत्यभक्तिर्हि त्रिकालाबाधगोचरा ।
अनन्तफलरूपत्वाद्वरीयस्यत्र दर्श्यते ॥१६॥

"यो यो यां यां" इत्यादि गीतावचनों से अर्थ निकलता है कि वे इन्द्रादि शरीर त्रिसत्य न होने से उन की भक्ति का फल भी अन्तवाला होता है। त्रिसत्य भक्ति त्रिकाल अवाध्य विषयक होने से अनन्त फलक होती है इसी लिये वही श्रेष्ठ है ॥१३-१६॥

*यजन्ते सात्त्विका देवान् यक्षरक्षांसि राजसाः ।
भूतान् प्रेतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः* ॥१७॥

तेषु श्रद्धां तत्फलं च त्रिनिष्ठः कुरुतेऽपरः
स त्रिसत्यस्तस्य भक्ता मद्भक्ता यान्ति मामिति ॥१८॥

गीता में ही सात्विक जन देवों को, राजस यक्षादिको, तामस जन भूतादि को भजते हैं, किन्तु उनमें श्रद्धा मैं कराता हूं, फल भी मैं देता हूं ऐसा कह कर भगवान् ने अपने को त्रिनिष्ठ सूचित किया वही त्रिसत्य है। उसके भक्त ही "मद्भक्ता यान्ति माँ" से बताये ॥१७-१८॥

"देवान् देवयजो" वाचा सत्त्वहेयत्वमिङ्ग्यते ।
निर्गुणैव ततो भक्तिर्हरिभाक्तिर्हरेर्मता ॥१९॥

श्रीमद्भागवते सैषा बहुधास्ति च वर्णिता ।
त्रिसत्यगोचरत्वेन तामिहाह गरीयसीम् ॥२०॥

"यजन्ते सात्विका देवान्" और "देवान् देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि" इन दोनों को मिलाने पर अर्थ निकलता है सात्विक रूप से प्रसिद्ध देव भक्ति भी त्याज्य है, अर्थात् हरि भक्ति निर्गुण है। वही ग्राह्य है। श्रीमद्भागवतमें तो निर्गुण भक्ति का बहुधा वर्णन है। उसी निर्गण भक्ति को यहां त्रिसत्य गोचर और गरीयसी बताया ॥१९-२०॥

कायिकं वाचिकं चैव मानसं चेति यत्त्रिधा ।
सत्यं तद्भक्तिरत्रोक्तेत्यन्ये तु व्याचचक्षिरे ॥२१॥

कुछ लोगों की व्याख्या है-कायिक, वाचिक और मानसिक ऐसे तीन जो सत्य हैं उसकी भक्ति उत्तम है ॥२१॥

सत्यहेतुत्वतः सत्यशब्दाः कर्मादयस्त्रयः ।
तेषां गरीयसी भक्तिरित्यप्यन्ये व्यवृण्वत ॥२२॥

दूसरे लोग व्याख्या करते हैं–त्रिसत्य माने ज्ञान, भक्ति और कर्म। क्यों कि ये तीनों सत्यफलके हेतु हैं। इन में भक्ति श्रेष्ठ है। (त्रिसत्यस्य यह निर्धारण षष्ठो हैं) ॥२२॥

त्रिसत्यस्य हरेर्दृष्टौ भक्तिरेव गरीयसी ।
तेषामहं समुद्धर्त्तेत्युक्तत्वादिति कश्चन ॥२३॥

ऐसी भी व्याख्या करते हैं कि त्रिसत्य हरि की दृष्टि में भक्ति ही श्रेष्ठ है। अत एव 'तेषामहं समुद्धर्त्ता" उनका मैं उद्धारक हूं ऐसा कहा ॥२३॥

यदत्र पुनरप्याह भक्तिरेव गरीयसी ।
देवर्षिर्नारदस्तस्य कमप्यर्थं विचक्ष्महे ॥२४॥

देवर्षि नारदजी ने यहाँ भक्तिरेव गरीयसी की पुनरुक्ति की है उस के अर्थ पर हम विचार करें ॥२४॥

त्रिसत्यविषया भक्तिरितराभ्यो गरीयसी ।
परमत्रापि विषयविषयित्वं विलोक्यते ॥२५॥

त्रिसत्य की भक्ति अन्य भक्तियों से श्रेष्ठ है। परंतु यहां भी विषय विषयि भाव है। त्रिसत्य विषय है। भक्ति विषयी है ॥२५॥

या तु निर्विषया भक्तिर्या प्रेमरसविग्रहा ।
यद्रूप एव च हरिर्यत्र द्वैतं न विद्यते ॥२६॥

त्रिरूपभङ्गपूर्वापि पौर्वापर्यविवर्जिता ।
या त्वस्मिञ्जगतोऽन्यस्मिन् परमप्रेमलक्षणा ॥२७॥

जगतोऽन्यत्वतो ह्यत्र विषयित्वादिवर्जिता ।
व्यवहारप्रसिद्ध्यर्थं सप्तम्या परिदर्शिता ॥२८॥

गरीयस्या अपि पराभक्त्यैव गरीयसी ।
शब्दान्तराभावहेतोरुच्यमाना गरीयसी ॥२९॥

परमः पुरुषार्थोऽसौ नान्योतो ह्यस्ति किंचन ।
सैषा विजयते भक्तिरावङ्मनसगोचरा ॥३०॥

तामेतामाह देवर्षिर्भक्तिरेव गरीयसी
द्विरुक्तिः क्रियते नात्र षष्ठ्यन्तावृत्त्याभावतः ॥३१॥

जो भक्ति वस्तुतः विषयविषयि भाव से रहित है, जो प्रेम रस मात्र रूप है (अथात् हरिकी भक्ति नहीं, हरि ही भक्ति है) जहां द्वंत का लेश भी नहीं (अद्वैतावस्था है) त्रिरूप भङ्गपूर्वक होनेपर भी जिस में पौर्वापर्य वस्तुतः नहीं है, जिस को नारदजी ने ही 'सा त्वस्मिन् परमप्रेमरूपा' बताया-त्वस्मिन् अर्थात् जगतोऽन्यस्मिन् जगत से अन्य में परम प्रेम रूप है (विशेष व्याख्या द्वितीय सूत्र में द्रष्टव्य) जगत् से अन्य होने ही से वाणी के अगोचर होने से विषय विषयिभावरहित है (त्वस्मिन्) यह सप्तमी शब्दान्तर न होने से व्यवहार मात्रार्थ जहां प्रयुक्त है, गरीयसी परा भक्ति से भी जो गरीयसी है, शब्द न होने से ही अगत्या समझाने के लिये जिस को गरीयसी कहा गया है वही भक्ति परम पुरुषार्थ है, उस से अन्य कुछ है ही नहीं, वाणी और मनके अविषय उस भक्ति की जय हो। उसी भक्ति को लेकर देवर्षि ने भक्तिरेव गरीयसी कहा। यहाँ द्विरुक्ति नहो समझना। द्विरुक्ति होती तो " त्रिसत्यस्य भक्तिरेव गरीयसी त्रिसत्यस्य भक्तिरेव गरीयसी " इस प्रकार षष्ठयन्त के साथ द्विरुक्ति करते ।।२५-३१।।

❀ हरिभक्तिमहादेव्याः सर्वा मुक्त्यादिसिद्धयः ।
भुक्तयश्चाद्भुतास्तस्याश्चेटिकावदनुव्रताः ❀ ।।३२।।

❀ त्वत्साक्षात्करणाह्लादविशुद्धाब्धिस्थितस्य मे ।
सुखानि गोष्पदायन्ते ब्राह्माण्यपि जगद्गुरो ❀ ।।३३।।

❀ त्वत्कथामृतपाथोधौ विहरन्ते महामुदः ।
कुर्वन्ति कृतिनः केचिच्चतुर्वर्गं तृणोपमम् ❀ ।।३४।।

अत्र सर्वत्र विषयविषयित्वविवर्जितम्
विशुद्धं प्रेम गदितं चतुर्वर्गाधिकत्वतः ।।३५।।

हरिस्वरूपिणी भक्तिर्महादेवीति रीतितः

भावार्थो बोध्यतामेषा रीतिस्तदुत्तरतोऽपि च   ॥३६॥

हरि भक्ति महादेवी की मुक्ति आदि तो दासीयां हैं। हरि भक्तिरससागर के सामने ब्रह्मा आदि का भी आनन्द गोष्पद समान है, इन सब वचनों में विशुद्ध प्रेम का ही वर्णन है। हरि हीं भक्ति वही महादेवी इत्यादि रीति व्याख्या समझनी चाहिये ॥३२-३३॥

कल्पितत्वेन रूपेण द्वैतमेकं हि कल्पितम्।

ततो गरीयसीति द्वि-र्वचनप्रविभाजनात्   ॥३७॥

तत एव गरिष्ठेति तदर्थमपि नावदत्।

परमार्थस्वरूपत्वप्रतिपादनहेतवे   ॥३८॥

यद्यपि कर्म ज्ञान वैराग्यादि अनेकों में विभाजन करने के लिये 'गरिष्ठा' बोलना व्याकरण रीति से उचित है। तथापि कर्मादि समस्त द्वैत कल्पित होने से कल्पित अकल्पित ऐसे दो ही विभाग रह जाते हैं। अतः 'द्विर्वचनविभज्योपपद' में गरीयसी प्रयोग किया। सारांश यही कि यह परमार्थ स्वरूप है ॥३७-३८॥

ज्ञानाद् गरायसीं केचिदिच्छन्त्यत्र मनीषिणः।

षष्ठ्यन्तमनुवर्त्यैव द्विरुक्तिं ते समार्थयन्   ॥३९॥

अन्य मतीषी मानते हैं कि ज्ञान से भक्ति गरीयसी यह यहां अर्थ है। अतः द्विर्वचनविभज्यता स्पष्ट है। षष्ठचन्त की अनुवृत्ति करने से द्विरुक्ति भी है ॥३९॥

अग्रे विभागमात्रं तु भक्तिव्याख्या त्विहान्तिमा।
अतः समाप्त्यायेकांशाद्विरुक्तिमितरे विदुः ॥४०॥

अन्य लोग कहते हैं कि अग्रिम सूत्र में भक्ति का विभाग मात्र है। भक्ति व्याख्या यहां समाप्त हो गयी अत: एक देशकी द्विरुक्ति की गयी ॥४०॥

अत एव द्विरुक्त्यात्र नारदो भगवानृषिः।
आदरं दार्ढ्यमप्येव संप्रवक्तीति संजगुः ॥४१॥

ॐ

इसी लिये भगवान देवर्षि नारदने आदर एवं दाढर्यार्थ भी द्विरुक्ति की ऐसा वे मानते हैं ॥४१॥

ॐ

उक्तं लोकेऽपि भगवद्गुणश्रवणकीर्त्तनम्।
माहात्म्यज्ञानविस्मृत्या नापवाद इतीरितम् ॥१॥
पूजादिष्वनुरागश्च पाराशर्यस्य दर्शितः।
त्रिरूपभङ्गसूत्रे च नित्यदास्याद्युदीरितम् ॥२॥
निवेदितात्मलोकादिसूत्रे चात्मनिवेदिता।
सर्वदा सर्वभावेनसूत्रे भावान्तराण्यपि ॥३॥

गुणमाहात्म्यासक्ति इत्यादि उत्तर सूत्र के प्राय: विषय पहले आ चुके है। "लोकेऽपि भगवद्गुणश्रवणकीर्त्तनात्" तत्रापि न माहात्म्यज्ञान" "पूजादिष्वनुराग इति पाराशर्य:" "त्रिरूपभङ्ग-पूर्वकं नित्यदासनित्यकान्ताभजनात्मकं" "लोकहानौ चिन्ता न कार्या निवेदितात्मलोकवेदत्वात्" इस प्रकार गुणमाहाम्य-रूप-पूजा आदि का प्राय: वर्णन आ गया। जो बच गये वे "सर्वदा सर्व भावेन निश्चिन्तितैः" सूत्र में संगृहीत किया ॥१-३॥

सूचितास्तत्र तत्रैव भक्तिभेदा महर्षिणा ।
भक्तेरन्या उतानन्यास्ता भिदा इति शङ्क्यते ॥४॥

तत्र तत्र भक्ति भेद सूचित किया । ये सब वास्तविक भक्ति से अन्य है या अनन्य यह शंका उठती हैं ॥४॥

किमतो यदि भिन्नाः स्युः कतमः श्रेयसः पदम् ।
अनन्यत्वे तु यः कोऽपि श्रेयःकारणतां भजेत् ॥५॥

वास्तविक भक्ति से भिन्न हो या अभिन्न, इस से क्या फरक? फरक यही कि भक्ति से भिन्न है तो इन में श्रेयके प्रति मुख्य कारण कौन यह बताना होगा। अभिन्न हो तो किसी को भी अपनालो, पहुँचेंगे लक्ष्य पर ही, यही फरक है ॥५॥

अत्रोच्यते भक्तिरेका सोपाधिवशतः पुनः ।
नानाभावमवाप्नोति न तु वस्तुतया तथा ॥६॥

सिद्धान्त यह है कि भक्ति एक ही है। उपाधियोंके कारण वह नानारूप होती है, वस्तुतः नानारूप नहीं ॥६॥

साधको येन केनापि संप्राप्योपाधिना पराम् ।
भक्तिं ततोऽनन्तरं स तदुपाधिः प्रवर्त्तते ॥७॥

साधक इन गुण-श्रवण-पूजा-स्मरणादि किसी भी उपाधि से प्रारंभ कर परा भक्ति प्राप्त करता है। उस के बाद पूजादि उपाधिक भक्ति ही उसके जीवन में मुख्यरूपेण दिखेगी ॥७॥

केवलोपाधिरूपत्वादस्ति भेदस्तु साधने ।
परं तूपहिताभेदात् सिद्धभक्तेर्भिदा न हि ॥८॥

पूजा स्मरणादि केवलं उपाधि परस्पर भिन्न भिन्न ही हैं और प्रथम साधन वही है। परंतु बाद में पूजाद्युपहित प्रेमरूपी भक्ति प्राप्त होती है तो उपहित भक्तियों में भेद नहीं रहता ॥८॥

ईषत्प्रेमप्रकटने भेदाभेद इव स्थितिः ।
प्रेम्णैवैतन्नैव कौतूहलमात्रं शिशोरिव ॥९॥

थोड़ा थोड़ा प्रेम प्रकट होने लगा तो भक्ति में भेदाभेद जैसी स्थिति होती है । वैसे तो उपाधि भिन्न हो है, उपहित अभिन्न ही है,तथापि प्रेम पूर्ण प्रकट न होने पर भेदाभेद जैसी स्थिति होती है। हाँ, यह ईषत्प्रकट प्रेम केवल कौतुक मात्र मत समझो। बच्चों में कुतूहलता होती है किन्तु बाद में वह खतम होती है । प्रेम यदि थोडा भी प्रकट हुआ तो फिर वह खतम नहीं होगा ॥९॥

सिद्धां भक्तिमुपादाय प्रकटां प्रेमलक्षणाम् ।
सूत्रमेतत् प्रवृत्त एकधेत्युक्तिसंगतेः ॥१०॥

अग्रिम सूत्र सिद्ध भक्ति अर्थात प्रकट प्रेम लक्षण भक्ति को लेकर ही प्रवृत्त हुआ है । इसी लिये "एकधा" इस पद की संगति है। उपाधिमात्रस्वरूप साधन भक्ति होती तो एकता कदापि संभव नहीं थी ॥१०॥

साधनक्रमतः सेयं सिद्धा भक्तिर्विभज्यते ।
सापि क्रमेण क्रमशः परकोटिप्रविष्टये ॥११॥

साधन के क्रम से सिद्ध भक्ति का यहां विभाजन किया जा रहा है। उपहित भक्ति में भी पौर्वापर्य है। वह भी क्रमशः परम कोटि प्रवेशार्थ कहा जा रहा है ॥११॥

गुणमाहात्म्यासक्ति-रूपासक्ति-पूजासक्ति-स्मरणासक्ति-दास्यासक्ति-सख्यासक्ति-कान्तासक्ति-वात्सल्यासक्त्यऽऽत्मनिवेदनासक्ति-तन्मयतासक्ति-परमविरहासक्तिरूपा एकधाप्येकादशधा भवति ॥८२॥

भक्ति वैसे तो एक ही प्रकार की है, फिर भी गुणमाहात्म्यासक्ति आदि उपाधि ग्यारह होने से भक्ति भी एकादश प्रकार की होती है ॥८२॥

अस्मिन् गुणस्य माहात्म्यमिति षष्ठी समस्यते ।
अत एवासक्तिपदावृत्तिरत्र न दृश्यते ॥१२॥

इस सूत्र में 'गुणस्य माहात्म्यं गुणमाहात्म्यं' ऐसा षष्ठी समास है । गुणश्च माहात्म्यं च ऐसा द्वन्द्व समास नहीं । ऐसा होता तो गुणासक्ति माहात्म्यासक्ति इस प्रकार आसक्ति पदकी आवृत्ति होती ॥१२॥

द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणस्य प्रत्येकेनानुबन्धने ।
भवेद् द्वादशधा भक्तिर्नत्वेकादशधा तदा ॥१३॥

यदि कहें कि द्वन्द्वान्त में श्रूयमाण पद का प्रत्येक से सम्बन्ध होता है, अत. आवृत्ति न करने पर भी अर्थ वही है, तो एकादशधा न कह कर द्वादशधा कहना चाहिये था ॥१३॥

एकासक्तिपदस्यैव सर्वसम्बन्धसंभवे ।
एकादशासक्तिपदावृत्त्यानर्थक्यमापतेत् ॥१४॥

फ़िर एक ही आसक्ति पद अन्त में बोलना था। ग्यारह बार उसकी आवृत्ति करने का भी प्रयोजन क्या था ? ॥१४॥

न च वैयर्थ्यमत्रेति युक्तं द्विपदसंगमे ।
भ्रमो मा भूदिति तदावृत्तिसार्थक्ययोगतः ॥१५॥

कहो कि इतनी बार आवृत्ति कर शब्द जोड़ना व्यर्थ ही है तो उत्तर है कि गुणासक्ति माहात्म्यासक्ति आत्मासक्ति निवेदनासक्ति इत्यादि रीति द्विपद स्थल में भ्रान्ति निवारणार्थ आवृत्ति सार्थक है ॥१५॥

किं च दास्यादयो भक्ते हरौ चैव गुणादयः ।
ततश्चानेकरूपत्वात् समासो दुर्घटो भवेत् ॥१६॥

दूसरी बात-दास्यादि तो भक्त निष्ठ है। गुणमाहात्म्यादि भगवत् निष्ठ है। षष्ठी समास में आसक्ति के साथ एकरूपात्मक इन का संबन्ध संभव न होने से समास करना दुर्गम होगा ॥१६॥

गुणादिपूजास्मरणमिति वा भ्रान्तिरुद्भवेत्
किं चावृत्तिः कृता तावदेकादशरसादरात् ॥१७॥

गुणादि की पूजा, गुणादिका स्मरण, पूजा का स्मरण इत्यादि समासों की भ्रान्ति भी अत्यन्त संभावित है। फिर एकादशरस

रूप का हमने प्रथम वर्णन किया था। उनके समादर के लिये भी आसक्तिपदावृत्ति है ॥१७॥

गुणात्मकं यन्माहात्म्यमित्येवं कर्मधारयम्।
मन्यन्तेऽत्र परे सन्तो गुणोऽत्र परिचायकः ॥१८॥

गुणका माहात्म्य नहीं, किन्तु गुणरूपी माहात्म्य ऐसा कर्मधारय है इस प्रकार कुछ सन्त मानते हैं। इस पक्ष में गुणपद केवल परिचायक ही होगा ॥१८॥

***प्रथमं महतां सेवा तद्दयापात्रता ततः।**
श्रद्धाथ तेषां धर्मेषु ततो हरिगुणश्रुतिः ॥१९॥

ततो रत्यङ्कुरोत्पत्तिरि*ति स्वचरिते मुनिः।
गुणासक्तिं सूचयति प्रथमं तच्छ्रुतिर्यतः ॥२०॥

महापुरुष सेवा, उनकी दयाकी पात्रता, सद्धर्मों में श्रद्धा, फ़िर हरि गुण श्रवण, तब रति की अङ्कुरोत्पत्ति यह क्रम नारदजीने अपने चरित्रकथन में व्यास जी को सुनाया। गुण श्रुति के बाद रत्यङ्कुरोत्पत्ति कथन से प्रथम गुणासक्ति सूचित होती है ॥१९-२०॥

गुणासक्तिसमुन्मेषात् प्रेमाङ्कुरसमुद्गतौ।
शान्तो विशुद्धः सुधियां रसः स्फुरति चेतसि ॥२१॥

गुणासक्ति का उन्मेष जहां हुआ वहां प्रेमांकुर फूटने लगा। तब विशुद्ध शान्त रस साधक के मन में स्फुरित होने लगता है ॥२१॥

❀ हरेर्गुणाक्षिप्तमतिर्भगवान् बादरायणिः ।
अध्यगान्महदाख्यानं नित्यं विष्णुजनप्रियः ॥२२॥

आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे ।
कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थंभूतगुणा हरिः ❀ ॥२३॥

❀ प्रायेण मुनयो राजन्निवृत्ता विधिषेधतः ।
नैर्गुण्यस्था रमन्ते स्म गुणानुकथने हरेः ❀ ॥२४॥

इत्यादिवचनेषूक्ता गुणासक्तिर्महात्मनाम् ।
आसक्तिर्हि गुणादीनां श्रवणे कीर्त्तनेऽपि च ॥२५॥

हरिगुण श्रवण से विचलित मति शुकदेवजीने भागवत संहिता पढ़ी । आत्माराम महापुरुष भी भगवान् में अहैतुक भक्ति करते हैं क्यों कि हरि के गुण ही ऐसे हैं । विधिनिषेध रहित नैर्गुण्यनिष्ठ भी हरिगुणानुकथन में लगे रहते हैं । इन सब वचनों में महापुरुषों की हरिगुणासक्ति स्पष्टोक्त है । महात्माओं में शान्तरस तो होता ही है । गुणों के श्रवण एवं कीर्त्तन दोनों में आसक्ति समझना ॥२२-२५॥

गुणासक्तौ प्रजातायां प्रायस्तस्या व्यपेक्षया
द्वितीया महतां चित्ते रूपासक्तिः प्रजायते ॥२६॥

गुणासक्ति के होने के बाद प्रायः उसी की अपेक्षा से महापुरुषों के चित्त में द्वितीय रूपासक्ति होने लगती है ॥२६॥

रूपासक्तिर्जगं स्वस्य ध्यानं नित्यं प्रकुर्वतः ।
हरिदर्शनतः पश्चान्नारदेन महर्षिणा ॥२७॥

नारदजी ने निज पूर्वजन्मवृत्तान्त में गुणासक्ति के बाद ध्यान से हरि दर्शन होने पर अपनी रूपासक्ति बतायी ।।२७।।

* ध्यायतश्चरणाम्भोजं ध्याननिर्जितचेतसा ।
औत्कण्ठ्याश्रुकलाक्षस्य हृद्यासीन्मे शनैर्हरिः ।।२८।।

प्रेमातिभरनिर्भिन्नपुलकाङ्गोऽतिनिर्वृतः ।
आनन्दसंप्लवे लीनो नापश्यमुभयं मुने ।।२९।।

रूपं भगवतो यत्तन्मनःकान्तं शुचापहम् ।
अपश्यन् सहसोत्तस्थे वैक्लव्याद् दुर्मना इव ।।३०।।

दिदृक्षुस्तदहं भूयः प्रणिधाय मनो हृदि ।
वीक्षमाणोऽपि नापश्यमवितृप्त इवातुरः * ।।३१।।

इत्येवं स्पष्टमेवोक्तं रूपासक्तिर्महर्षिणा
माहात्म्यासक्तितः पश्चाद्दर्शनात् सा तु युज्यते ।।३२।।

नारदजी अपने वृत्तान्त में बता रहे हैं कि ध्यान में मैंने हरि को हृदय में देखा। मैं तो अति प्रेम निमग्न होकर इहलोक परलोक सब कुछ भूल गया। किन्तु क्षण में ही वह रूप गायब हुआ तो व्याकुल हो उठा। उसी रूपको देखने के लिये मैं अति आतुर हुआ यहां महात्म्यासक्ति के बाद स्पष्ट ही रूपासक्ति बतायी ।२८-३२।

ननु रूपेक्षणात् पश्चाद् रूपासक्तिर्हि युज्यते ।
नारदस्यासदादेस्तु कथं स्यात्तदभावतः ।।३३।।

ठीक है, नारदजीने प्रथम ध्यान में रूप देखा अतः बाद में रूपासक्ति हुई। हमारे जैसों ने रूप नहीं देखा तो रूपासक्ति कैसे होगी? ।।३३।।

तन्नाप्रत्यक्षितेऽप्येव माहात्म्यश्रवणादितः ।
आसक्तिरुद्भवेद्रूपे क्रमेणैव महीयसाम् ।।३४।।

समाधान यह है को अप्रत्यक्ष होने पर भी माहात्म्यश्रवणादि से रूप में आसक्ति होना संभव है ।।३४।।

श्रुत्वा गुणान् भगवतो रुक्मिण्याः प्राविशन्मतिः ।
रूपे तस्य दृशां नृणां सर्वलाभकरे मुहुः ।।३५।।

यन्मर्त्यलीलौपयिकं योगमायाबलाहितम् ।
तत्स्वविस्मापनं रूपं सौभगर्द्धेः परं पदम् ।।३६।।

गुणों को सुनकर ही तो रुक्मिणी के मन में रूपदर्शनेच्छा हुई। "यन्मर्त्यलीलौपयिकं" इत्यादि श्लोक में रूप की बड़ी महिमा गायी है। मर्त्यलीलार्थ उसका योगमाया से भगवान ने धारण किया दूसरों को तो क्या उस रूप को दर्पणादि में देखने पर अपने आपको भी विस्मय होने लगता। संपूर्ण सौभाग्य समृद्धिका तो वह आस्पद था ।।३५-३६।।

❃ पराकृतनमद्बन्धं परं ब्रह्म नराकृति ।
सौन्दर्यसारसर्वस्वं वन्दे नन्दात्मजं महः ❃ ।।३७।।

आत्मैव खलु सौन्दर्यसारसर्वस्वरूपभाक् ।
स एव बहिरुद्भूतः कृष्ण इत्यभिधीयते ।।३८।।

अतश्च तद्दिदृक्षा च तदासक्तिश्च सुग्रहा
नराकृति परं ब्रह्मेत्येतदेव समीरितम्   ॥३९॥

"पराकृतनमद्बन्धं" इस श्लोक में सौन्दर्यसारसर्वस्व बताया। आत्मा ही सौन्दर्यसारसर्वस्व है यह निश्चित है। मृतक में भला क्या सौन्दर्य हो। वही आत्मा बहिरुद्भूत होने पर श्रीकृष्णरूप है यही परंब्रह्मनराकृति का अर्थ है। वहां दिदृक्षा एवं रूपासक्ति सुतरां युक्त है ॥३७–३९॥

रूपासक्तिर्वर्धमाना प्रेमसारस्वरूपिणी।
वीक्षारसं प्रकटयेत् सैव रूपावितृप्तता   ॥४०॥

रूपासक्ति लौकिक भाव को छोडने पर प्रेमरसमात्रविग्रह होगी। तब वीक्षारस प्रकट होता है। उसी को नारदजीने "अवितृप्त इवातुरः" से कहा ॥४०॥

पूजासक्तिस्तृतीया स्याद् रूपासक्त्युद्भवोत्तरम्।
पाद्यार्घ्याचमनादीनि पूजा प्राग्विनिरूपिता   ॥४१॥

रूपासक्तिके बाद तीसरी पूजासक्ति है। पाद्यादि पूजा प्रसिद्ध है ॥४१॥

नन्वासक्तिं विना रूपे पूजासक्तिर्विलोक्यते।
शालग्रामशिलादौ हि नास्ति हस्तपदादिकम्   ॥४२॥

मैवं कर्तव्यताबुद्ध्या पूजां तत्र प्रकुर्वते।
आसक्तिः स्यान्निरुपधिर्नन्यिथेति सतां मतम्   ॥४३॥

शंका होगी कि रूपासक्ति के विना भी पूजासक्ति होती है। शालग्राम शिलादि में हाथपांव आदि रूप कहाँ है? फिर भी पूजासक्ति होती है। उत्तर है कि कर्त्तव्य बृद्धि से शालग्रामादि पूजासक्ति है। रूपासक्ति के विना निरुपाधि पूजासक्ति नहीं होती ॥४२-४३॥

कर्त्तव्यं कुर्वतां तत्र चिराभ्यासवशानुगा।
आसक्तिर्या तु पूजादौ पूजासक्तिर्न तावती ॥४४॥

पूजासक्तिः पूजकानां रसमात्रकलेवरा।
नैवैषा लौकिकी किन्तु दिव्यप्रेमस्वरूपधृक् ॥४५॥

कर्त्तव्य करनेवालों की किसी भी अपने कर्त्तव्य कार्य में एक प्रकारकी आसक्ति होती है। वही पूजासक्ति यहां नहीं है। यहां पूजासक्ति रसविग्रहा है। यह लौकिक नहीं किन्तु दिव्यप्रेमस्वरूपधारी है ॥४४-४५॥

*** अहं सर्वेषु भूतेषु भूतात्मावस्थितः सदा।**
तमवज्ञाय मां मर्त्यः कुरुतेऽर्चाविडम्बनम् * ॥४६॥

इत्यादिना तु कपिलः पूजां यां प्रत्यपादयत्।
तत्रासक्तिश्च नितरां न रूपासक्तिमन्तरा ॥४७॥

'सर्वभूतस्थित मेरी अवज्ञा कर लोग मूर्ति पूजाकी विडम्बना करते हैं इस कपिलवचन में जिस पूजा की उपादेयता बतायी है वह रूपासक्ति के विना सभव है ही नहीं ॥४६-४७॥

*** यः पञ्चहायनो मात्रा प्रातराशाय याचितः।**
तन्नैच्छद्रचयन् यस्य सपर्यां बाललीलया * ॥४८॥

अत्र पूर्वभवीयाया आसक्तेः स्पष्टमीक्षणात् ।
रूपासक्तिकृता पूजासक्तिः काचिद्विलक्षणा ॥४९॥

जो (उद्धव) पांच वरस ऊमर का था। सुवह नाश्ता के लिये माँ कहती रही तो उसे नहीं चाहा। खेल के रूप में वह पूजासक्त था। यहां पूर्व जन्मीय संस्कार स्पष्ट है। अतः सामान्य आसक्ति मात्र पूजासक्ति नहीं है ॥४८-४९॥

न च वैयर्थ्यमप्यत्र शालग्रामादिपूजने ।
शालग्रामादिरपि च भगवद्रूप इष्यते ॥५०॥

तस्य पूजां प्रकुर्वाणस्तद्रूपासक्तिमृच्छति ।
पूजासक्तिस्ततश्चैव दिव्यप्रेमात्मिकोद्भवेत् ॥५१॥

तो क्या शालग्रामादि पूजा एवं उस में आसक्ति कुछ माना नहीं रखती ? क्यों नहीं ? शालग्रामादि भी तो आखिर भगवान का रूपविशेष है। पूजा करते करते उस रूप में प्रथम आसक्ति होगी फिर उसी से दिव्य पूजासक्ति भी उत्पन्न होगी हीं ।५०-५१।

तद्दिव्यमव्ययं रूपं पूजयैव प्रकाशते ।
न चेयता मता पूजासक्तेः प्राग्भवता सताम् ॥५२॥

यद्यपि शालग्रामादि का दिव्य रूप पूजा से ही प्रकट होता है। अत एव पूजासक्ति पहले होती है ऐसा भ्रम होता है। वस्तुतः पूजा वैध है। उस से रूपासक्ति होगी। तब दिव्य पूजासक्ति होगी ॥५२॥

पूजारसं तु कमपि पूजका एव जानते ।
नैवं तृप्यन्ति ते पूजां कारं कारमलौकिकीम् ॥५३॥

पूजासक्ति का फल पूजारस तो पूजक ही जान सकते हैं। अलौकिक पूजा करते करते वे तृप्त ही नहीं होते ॥५३॥

रूपासक्तिसमुद्भूतां पूजासक्तिमुपेयुषः ।
चतुर्थी स्मरणासक्तिरितिसिद्धार्थवत् स्थितम् ॥५४॥

रूपासक्ति से पूजासक्ति होने पर स्मरणासक्ति तो स्वतः सिद्ध जैसी है। (लौकिकोदाहरणसादृश्यमात्र होने से "जैसी" पद जोड़ा) ॥५४॥

*स्मरन्तः स्मारयन्तश्च मिथोऽघौघहरं हरिम् ।
भक्त्या संजातया भक्त्या बिभ्रत्युत्पुलकां तनुम् ॥५५॥

*मयि ताः प्रेयसां प्रेष्ठे दूरस्थे गोकुलस्त्रियः।
स्मरन्त्योऽङ्ग विमुह्यन्ति विरहौत्कण्ठ्यविह्वलाः *॥५६॥

*इति संस्मृत्य संस्मृत्य नन्दः कृष्णानुरक्तधीः।
अत्युत्कण्ठोऽभवत्तूष्णीं प्रेमप्रसरविह्वल *: ॥५७॥

*मय्यावेश्य मनः कृत्स्नं विमुक्ताशेषवृत्ति यत् ।
अनुस्मरन्त्यो मां नित्यमचिरान्मामुपैष्यथ * ॥५८॥

*विपदो नैव विपदः संपदो नैव संपदः ।
विपद् विस्मरणं विष्णोः संपन्नारायणस्मृतिः * ॥५९॥

*एतावान् सांख्ययोगाभ्यां स्वधर्मपरिनिष्ठया ।
जन्मलाभः परः पुंसामन्ते नारायणस्मृतिः * ॥६०॥

इत्यादौ या स्मृतिः प्रोक्ता सा तु काचिद्विलक्षणा ।
तत्स्वरूपं परिज्ञातुं किंचिदत्र विचार्यते ॥६१॥

भक्त लोग स्मरण करते कराते भक्तिजन्य भक्ति से पुलकित होते हैं। नंदराय बार बार स्मरण कर प्रेमविह्वल हो गये। हे गोपिकायें मुझमें मन लगाकर नित्य मेरा स्मरण करती हुई तुम लोग मुझे प्राप्त होगी। विपत्ति विपत्ति नहीं, संपत्ति संपत्ति नहीं। हरिका विस्मरण ही विपत्ति है और स्मरण ही संपत्ति है। सांख्य योग का चरम रहस्य है -अन्त में नारायण स्मरण इत्यादि वचनों में उक्त स्मृति कुछ विलक्षण ही है। अतः उस पर हम थोडा विचार प्रस्तुत करते हैं ॥५५-६१॥

परमव्याकुलत्वं तद्विस्मृतौ प्रागुदीरितम् ।
विस्मृतौ स्मृत्यभावेन कथं व्याकुलता भवेत् ॥६२॥

न च स्मृतौ प्रजातायां पूर्वविस्मरणस्मृतेः
सेति वाच्यं यतस्तत्र परमत्वं ततः कथम् । ॥६३॥

जाते स्मृतिरसे प्राग्विस्मृतिव्याकुलता कथम् ।
भुञ्जानः परमान्नं हि प्राक्क्षुधां कोऽनुशोचति ॥६४॥

पहले सूत्रकार ने बताया था–"तद्विस्मरणे परमव्याकुलता च परं तु विस्मरण ही हो गया तो व्याकुलता किस बात की। व्याकुलता स्मरण में होती है। यदि कहें कि स्मरण आने पर विस्मरण जो पूर्व में हुआ उस की व्याकुलता होती है। होती है अवश्य, परंतु वह परम व्याकुलता नहीं होगी। क्यों कि वर्तमान में स्मरण जो हो रहा है। उस स्मरण रस को भूलकर पूर्व विस्मरण के लिये कौन रोयेगा ? ॥६२-६४॥

विस्मर्त्तुमभिलष्यन्ती राधा हन्त कथान्तरैः ।
हरिं प्रतिपदं देवी सस्मार विरहातुरा ॥७४॥

राधा चाहने लगी कि मैं हरि को बिसर जाऊं । ललिता को अन्य कथा कहने को बोली । किन्तु उस में प्रतिशब्द हरिका स्मरण करने लगी ? ॥७४॥

काश्यामासीत् पुरा विप्रः श्यामः क्वाद्य तु विद्यते ।
काकारं परिवर्ज्यैव श्यामशब्दं शृणोति सा ॥७५॥

आसीत् काश्यां पुरा विप्रः कथमल्लोप एष ते ।
वाराणस्यामभूद्विप्रः शस्य सत्वं कथं भवेत् ॥७६॥

ललिता कथा बोलने लगती है– "काश्यामासीत्पुरा विप्र":- काशी में एक ब्राह्मण था । राधा प्रथम 'का' पर ध्यान नहीं देती 'श्याम' इतना सुना तो पूछने लगी श्याम आजकल कहां है । इस भ्रान्तिका वारण करने के लिये 'आसीत्काश्यां पुरा विप्रः' कहा तो उस में भी श्यां आरहा था ती राधा पूछ रही है 'म' कार में से अकार का लोप क्यों किया । ललिता हैरान हो गयी तो काशी शब्द को हटाकर वाराणसी का प्रयीग किया वाराणस्यामभूद्विप्रः । किन्तु उस में स्याम आगया तो पूछने लगी 'श' कार को तूने सकार क्यों किया । यही तो नित्य स्मरण है ॥७५-७६॥

आसक्तयश्चतस्रोऽमूर्भगवद्भक्तिगोचराः ।
अथोच्यन्ते चतस्रश्च स्वात्मनो भावगोचराः ॥७७॥

ये भगवद्भाव को लेकर चार हो गयी । अब आतमभाव को लेकर चार असक्तियां बतायेंगे ॥७७॥

भावना तु भवेत्काचिदतः पूर्वविलक्षणाः
दास्यासक्तिः पञ्चमीयं दास्यं स्वाम्यनिरूपितम् ॥७८॥

दास्यादि चारमें अवश्यं भावी भावनायें होती हैं। अतः गुणासक्ति आदि से विलक्षण हैं। पाचवीं आसक्ति दास्यासक्ति है। दास्य हमेशा भगवन्निष्ठ स्वाम्य से सापेक्ष है। (आत्मनिवेदन किंचिन्निरूपित नहीं है) ॥७८॥

नैव भावविशेषः स्यो भवेदात्मनिवेदनम् ।
अतः पार्थक्यमनयोरन्यत्तत्रैव वक्ष्यते ॥७९॥

आत्मनिवेदन में दास्यादि रूप भावविशेष नहीं है । अतः दास्य से वह पृथक है । अन्य पार्थक्य तो आत्मनिवेदनासक्ति की व्याख्या में ही हम बतायेंगे । तथापि दास्य तथा आत्मनिवेदन में काफी समता भी है ॥७९॥

'दासृ दान' इति प्रोक्ताद्धातोर्दासपदं भवेत् ।
समर्पणं द्वयोरेव तुल्यवद् ब्रुवते बुधाः ॥८०॥

'दासृ दाने' धातु से दास शब्द है इस में भी समर्पण है आत्मनिवेदन में भी समर्पण हे। अतः दोनों को तत्त्ववेत्ता तुल्यवत् बताते हैं ॥८०॥

व्याकुलोऽलभमानोऽभूद्रामदास्यं मरुत्सुतः ।
इत्येवं स्मर्यते तेन कोऽपि दास्यरसः स्थितः ॥८१॥

दास्यासक्तिवशात् सोऽयं सतामुज्जृम्भते रसः ।
प्रवर्धते च सततमयं प्रेमस्वरूपधृक् ॥८२॥

एक जगह कथा आती है कि राम सेवा प्राप्त न होने पर हनुमान जी व्याकुल हुए। आखिर जंभाई आनेपर चुटकी बजाने की सेवा मिली इत्यादि। इस से दास्यरस स्पष्ट होता है। दास्यासक्ति से ही यह दास्य रस प्रकट होता है। नित्य बढ़ता रहता है अत एव प्रेमस्वरूप है ॥८१-८२॥

*** जन्मान्तरसहस्रेषु यस्य स्यान्मतिरीदृशी।**
दासोऽहं वासुदेवस्य सर्वाल्लोकान् समुद्धरेत् * ॥८३॥

इत्यनुच्छेदता प्रोक्ता तस्य साहस्रजन्मसु।
तथा च प्रेमरूपत्वं स्थितं दास्यरसस्य हि ॥८४॥

हजारों जन्मोंमें जिस की यही भावना हो कि मैं हरिका दास हूं वह समग्र लोकों का उद्धार करता है। इस श्लोक में दास्य का उच्छेदाभाव बता कर उसे प्रेमात्मक सूचित किया ॥८३-८४॥

*** त्वयोपभुक्तस्रग्गन्धवासोऽलंकारचर्चिताः।**
उच्छिष्टभोजिनो दासास्तव मायां जयेमहि * ॥८५॥

अविच्छिन्नानुरागं यो लभते केवलं पुमान्।
स मायां तरतीत्युक्तं प्रेम दास्यमतोऽपि च ॥८६॥

आपके उपभुक्त माला चन्दन वस्त्र अलकार धारण कर और आपका उच्छिष्ट भोजन कर हम दास अवश्य ही आप की माया को जीतेंगे इस वचन में दास माया को जीतते हैं कहकर दास्य को प्रेमरूप बताया। क्यों कि "कस्तरति मायाँ" ऐसा प्रश्न पूछकर 'योऽविच्छिन्नमनुरागं लभते" ऐसा पूर्व में आया ॥८५-८६॥

* यन्नामश्रुतिमात्रेण पुमान् भवति निर्मलः ।
तस्य तीर्थपदः किं वा दासानामवशिष्यते *　　॥८७॥

इत्यादिना च बहुधा दास्यमाहात्म्यमीरितम् ।
तत्र तत्र हि शास्त्रेषु गोपीभिरपि सुस्फुटम्　　॥८८॥

जिसके नाम श्रवण से ही मनुष्य पवित्र हो, उसका दास बनने पर फिर क्या बच गया इत्यादि में दास्य का माहात्म्य बताया। गोपियोंका उदाहरण भी है ॥८७-८८॥

वीक्ष्यालकावृतमुखं तव प्रहसितेक्षणम् ।
भुजदण्डं श्रियो वक्षो वीक्ष्य दास्यो भवाम ते　　॥८९॥

इत्यादौ प्रथमं स्त्रीभिर्दास्यासक्तिः प्रदर्शिता ।
पश्चात्तु सख्यमाधुर्यप्रभृतिर्युज्यते रसः　　॥९०॥

"वीक्ष्यालकावृतमुखं" इत्यादि भागवत श्लोक में रूपादि आसक्ति के बाद दास्यासक्ति बतायी। उस के बाद ही सख्य माधुर्यादि भक्ति होती है ॥८९-९०॥

गुणाद्यासक्तिभिश्चैव भगवत्कृपयापि च ।
दुर्लभा जायते पुंसां दास्यासक्तिर्जितात्मनाम्　　॥९१॥

गुणमाहात्म्यादि आसक्ति से एवं पूजादि प्रयुक्त भगवत्कृपासे यह दुर्लभ दास्यासक्ति जितात्माओंको प्राप्त होती है ॥९१॥

नैवानन्दस्वरूपोऽयं रस इत्यभ्यधां पुरा ।
रसं लब्ध्वा भवेन्मर्त्य आनन्दीति श्रुतेर्वशात्　　॥९२॥

तत्सुखैकमतिस्तावद्दासो न स्वसुखेक्षणः ।
दास्यानन्दं नाभ्यनन्दन्मूर्च्छापत्तौ हि दारुकः ॥९३॥

* दारुकस्तं परिक्रम्य नमस्कृत्य पुनः पुनः ।
तत्पादौ शीर्ष्ण्युपाधाय दुर्मनाः प्रययौ पुरीम् * ॥९४॥

इत्याज्ञापालनपरा दासा दुर्मनसोऽपि च ।
स च दास्यरसो नैव सदानन्दाविनाभवः ॥९५॥

रस आनन्दस्वरूप नहीं है यह पहले हम कह आये हैं। रस से आनन्द मिलता है यह अलग बात है। दास तो स्वामिसुखमात्र देखता है। वह अपना सुख कहां देखता है। इसीलिये दारुक श्रीकृष्ण के अन्तर्धान समय में आनन्द लूटना नहीं चाहा। दुर्मना हो कर भगवत् आज्ञापालन को ही शिरोधार्य मानकर द्वारका पुरी गया। उसी में दास्यरस था। वह आनन्द के अविनाभावी नहीं है ॥९२-९५॥

ननु कृष्णो रसः प्रोक्तः स चानन्दस्वरूपभाक् ।
सत्यं तथापि भेदोऽपि कश्चिदस्तीत्युदीरितम् ॥९६॥

सति प्रकाश्यमानेऽपि स्यादानन्दावृतिः किल ।
वेदान्तिनां तदैक्येऽपि तथैवात्रापि बुध्यताम् ॥९७॥

क्यों नही? जब कि श्रीकृष्ण ही रसरूप है और श्रीकृष्ण आनन्दरूप है। उत्तर है कि फिर भी रस और आनंद में कुछ भेद भी है। "अस्ति" का प्रकाश होता है। किन्तु आनन्द आवृत रहता है। जब कि दोनों की ऐकता वेदान्त मतमें है। ॥९६-९७॥

सख्यासक्तिर्भवेत् षष्ठी दास्यासक्त्युत्तरोद्भवा ।
समानं ख्यायते यत्र सख्यभावः स कीर्त्तितः ॥९८॥

छठी सख्यासक्ति है। वह दास्यासक्ति के बाद होती है। समानता का भाव जहां हो उस को सख्यासक्ति कहते हैं ॥९८॥

ननु दास्यं विनाप्यंव पार्थादौ सख्यमांक्षितम् ।
सत्यं प्रत्यक्षकृष्णादौ पूर्वादृष्टेन सा भवेत् ॥९९॥

शंका होगो कि दास्य के विना भी सख्यासक्ति अर्जुनादि में देखने में आयी है। अतः दास्योत्तर ही सख्य हो ऐसा नियम नहीं हैं। बात सही हैं। परंतु यह प्रत्यक्ष कृष्णादि में युक्त है। वहाँ पूर्व जन्मादि संपादित दास्यरस हेतु हो सकता है ॥९९॥

न ह्यस्मदादेः पूजादिं विना दास्यं विनापि च ।
सख्यासक्तिः कथमपि शक्यसंभावना भवेत् ॥१००॥

क्या हम जैसे लोग विना पूजादि किये विना दास्य भाव संपादन किये सख्य भाव प्राप्त करेंगे ऐसी संभावना की जा सकती है ? ॥१००॥

दास्यं साधारणं नृणां तदासक्त्या रसोद्भवे ।
असमेऽपि समख्यातिः प्रेमशक्त्या प्रजायते ॥१०१॥

दास्य भाव साधारण है सामान्य है। भगवान बड़े और हम छोटे अतः दासभाव आसानी से आ सकता है। किन्तु असम महान भगवान के प्रति समख्याति एका-एक कैसे होगी ? दासभावसे प्रेम प्रकट होने पर प्रेमकी अलौकिक शक्ति से असम में भी समख्याति होने लगती है। अतः दास्यासक्ति के बाद ही सख्यासक्ति ठहरती है। ॥१०१॥

तद्धितार्शंसनमयं बन्धुभावधुरन्धरम् ।
अवास्तवं भवेत्कामं वास्तवं विकटं ध्रुवम् ॥१०२॥

सख्य भाव में सखा का हित चाहना बन्धु भाव रखना आदि आता है। भगवान का अहित कब होने लगा कि हित की चाह शुरू हुई ? अतः भ्रान्तिरूप सख्य भले हो । किन्तु उसे हम सख्य भक्ति नहीं कह सकते। भक्ति तो वस्तु तत्व है। अत एव वास्तविक सख्य बड़ा विकट है। उसे तो प्रेम की अनिर्वचनीयता में ही ढालना होगा ॥१०२॥

*शान्ताः समदृशः शुद्धाः सर्वभूतानुरञ्जनाः
यान्त्यञ्जसाच्युतपदमच्युतप्रियबान्धवाः * ॥१०३॥

सेवासाध्यं भवेदेतत्सर्वभूतानुरञ्जनम् ।
ततः समदर्शिः पश्चात्सख्यं स्यात्समतोद्भवम् ॥१०४॥

शान्ताः समदृशः इत्यादि वाक्य में सर्वभूतानुरञ्जन सेवारूपी दास्य ही है। उस से समदृष्टि होती है तब सख्य होता है यही अच्युतप्रियबान्धवाः का अर्थ है। ॥१०३-१०४॥

नन्वकिंचनताभावाद्दास्यासक्तिर्गरीयसी ।
साहंकारा कथं सख्यासक्तिरुत्कर्षमाप्नुयात् ॥१०५॥

न च प्रेमवशादेवाहंकार इति सांप्रतम्
तथापि निरहंकारं किं न दास्यं विशिष्यताम् ॥१०६॥

समभावो हि यत्र स्यात्तत्राहंभावना ध्रुवा ।
तस्मात्क्रमाभिधानं न विवक्षितमिहेति चेत् ॥१०७॥

शंका होगी कि दास्य में अकिंचनता है। सख्य में समानता होने से कुछ अहंकार अवश्य होगा। इस कथन से कि प्रेम की शक्ति से अहंभाव आ सकता है, उत्तर नहीं होता। क्यों कि अहंकार के आने न आने की बात नही है। बात है कि जैसा भी अहंकार आवे अपकर्ष है ही। सर्वथा अहंकाररहित अकिंचनता उत्तम होना ही चाहिये ॥१०५-१०७॥

अत्र ब्रूमो हरेः सख्ये प्राकृती नास्त्यहंकृतिः।
भगवत्करुणोद्भूता दिव्या गोपार्भकादिषु ॥१०८॥

अन्तरा हरिकारुण्यं नैव सख्यं हरेर्भवेत्।
लीलार्थं भगवान् पुंसु दिव्यां कुर्यादहंकृतिम् ॥१०९॥

दिव्याहंकृतिरेषा तु नैव दोषाय कल्पते।
किन्तु सा गुणरूपैव सख्यमुत्कर्षभाक् ततः ॥११०॥

उत्तर यह है कि सख्य में प्राकृत अहंकार नहीं है। भगवत्करुणा प्रयुक्त दिव्य अहंकार उस में रहता है। वह भगवत्कारुण्य के विना नहीं होता। यह दिव्य अहंकार दोष नहीं बल्कि गुण है। अतः सख्य उत्कृष्ट माना जाता है ॥१०८-११०॥

अर्जुनश्च सुदामा च सुग्रीवो गोपबालकाः।
सख्यासक्तियुजः पूर्वदास्यादिति समाहितम् ॥१११॥

अथवा नित्यलीलासु नित्यास्ते भावरञ्जिताः
अस्मादृशां क्रमस्त्वेष इति सर्वं समञ्जसम् ॥११२॥

हम पहले समाधान दे आये कि अर्जुन सुदामादि में पूर्व जन्मीय दास्य से इस जन्म में सख्य हुआ। अथवा ये सब नित्य-लीलाघटक व्यक्ति हैं अतः उनका सख्यरसादि अनादि कालीन है। क्रम तो हमारे जैसों के दास्य सख्यादि के लिये है। अतः सर्व उपपन्न है ।।१११-११२।।

केचिद् व्याचक्षते कर्मार्पणं दास्यं विवक्षितम् ।
विश्वास एव सख्यं चेत्येवं ते कल्पनापराः ।।११३।।

कुछ लोग कर्मार्पण दास्य है विश्वास सख्य है ऐसा भेद करते हैं। उनकी भी यह एक ढंग की कल्पना है ।।११३।।

कान्तासक्तिः सप्तमी स्यात्सख्यासक्त्युत्तरस्थिता ।
अतिदुर्लभरूपा च माधुर्यरसतुन्दिला ।।११४।।

सातवीं कान्तासक्ति है। यह सख्यासक्ति के बाद होती है। उसे अति दुर्लभ बताया है। वह माधुर्यरसभरित होती है ।।११४।।

माधुर्यरसमेवान्ये सर्वोत्कृष्टं प्रचक्षते ।
राधिकादौ स एवाभूत् तदुत्कर्षश्च संमतः ।।११५।।

अनेक आचार्य माधुर्य रस को ही सर्वोत्कृष्ट मानते हैं। राधिका आदि में वही प्रेम रस था। उसके उत्कर्ष में तो संदेह है ही नहीं ।।११५।।

कान्ताभावोऽतिदिव्योऽयमभिन्ने भेदमादधत् ।
राधाकृष्णस्वरूपेण परं प्रेमोदबीभवत् ।।११६।।

यही अति दिव्य कान्ताभाव है जिस ने अभिन्न सच्चिदानन्द परम प्रेम परमात्मा में किंचित् भेद उत्पन्न कर राधा और कृष्ण के रूप में परमात्मा को उद्भावित किया ।।११६।।

शिवशक्तिभिदां केचित्सीतारामभिदां परे।
प्रथमोद्भूतिरेषैव सर्वोत्कर्षस्ततः स्थितः ॥११७॥

चाहे आप किसी भी मत को देख लीजिये प्रथम उद्भूति कान्त रस से ही होगी। शैव शाक्तादि प्रथम निरुत्तर ब्रह्मसे शिवशक्ति प्रादुर्भाव मानते हैं। दूसरे सोताराम प्रादुर्भाव मानते हैं। राधाकृष्ण की बात तो बतायी ही। अत. यह रस उत्कृष्ट है ॥११७॥

एकाकी नारमत स द्वितीयं स ततोऽलषत्।
ततः पतिश्च पत्नी चाभवतामिति च श्रुतिः ॥११८॥

श्रुति में भी यही बताया है कि प्रथम ब्रह्म एक ही था। वह एकाकी होने से रति प्राप्त न कर सका। उसने द्वितीय की कामना की। उसी से वही ब्रह्म द्विधा होकर पति और पत्नी बना॥११८॥

अत्र नारमतेत्येतत्कान्तारसविहीनताम्
आह दम्पतिजन्मोक्तेः स चैव प्रथमस्ततः ॥११९॥

एकाकी नारमत इस श्रुति में रमणाभाव का अर्थ कान्तारस का ही अभाव है। क्यों कि फिर उस की निवृत्ति के लिये दम्पति जन्म हुआ। अत एव सर्व प्रथम रस भी कान्तारस ही सिद्ध होता है ॥११९॥

ततः समुदभूत् सर्वं द्वन्द्वात्मकमिदं जगत्।
तस्मात्सर्वनिदानत्वादप्युत्कर्षोऽस्य सिध्यति ॥१२०॥

उसी प्रथम दम्पति से वृषभ गौ, अश्व वडवा आदि समस्त युगल जन्म है। अत एव सर्व जगत् का आदि कारण होने से भी कान्तरस की महत्ता सिद्ध होती है ॥१२०॥

सर्वोत्कर्षेऽग्रतश्चिन्तां वर्त्तयिष्यामहे वयम् ।
सख्यात् कान्तं गरीयः स्यादिति त्वत्र क्रमार्पितम्।१२१।

कान्तरस की सर्वोत्कर्षता के बारे में हम आगे विचार प्रस्तुत करेंगे। प्रकृत में नारदजी की क्रमोक्ति से सख्यापेक्षया कान्तभाव महान् तो सिद्ध होता ही है ।।१२१।।

कान्तासक्तौ क्वचिन्मानो मदोऽहंभाव एव च ।
क्वचिद् धाष्टर्यावहेलादिरपि स्पष्टमवेक्ष्यते ।।१२२।।

कान्तासक्ति में कहीं मान कहीं मद कहीं अहंभाव तथा क्वचित धृष्टता अवहेलना आदि स्पष्ट दीखता है ।।१२२।।

***एवं भगवतः कृष्णाल्लब्धमाना महात्मनः ।**
आत्मानं मेनिरे स्त्रीणां मानिन्योऽभ्यधिकं भुवि*।१२३।

***एका भ्रुकुटिमाबध्य प्रेमसंरम्भविह्वला ।**
घ्नतीवैक्षत्कटाक्षेपैः संदष्टरदनच्छदा * ।।१२४।।

***ततो गत्वा वनोद्देशं दृप्ता केशवमब्रवीत् ।**
न पारयेऽहं चलितुं नय मां यत्र ते मनः* ।।१२५।।

इत्यादौ दर्परोषादिर्दिव्य एवावगम्यताम् ।
सख्यादुत्कृष्टता तस्मान्नानादिव्यनिवेशतः ।।१२६।।

"एवं भगवतः कृष्णात्" इत्यादि भागवत प्रसङ्गो में मान, मद, रोष, दर्प ईत्यादि अनेक दिव्यभाव अवगत होते हैं। अनेक दिव्य भावों के समावेश से सख्य से उत्कृष्टता भी सिद्ध है।
।।१२३-१२६।।

ननु दिव्यस्वरूपेषु दर्पादिषु कुतो हरिः ।
तासामन्तरधात्तच्च तत्रोक्तमृषिणा खलु ॥१२७॥

*** तासां तत्सौभगमदं वीक्ष्य मानं च केशवः ।**
प्रशमाय प्रसादाय तत्रैवान्तरधीयत ॥१२८॥

यदि दर्प मान मदादि दिव्य हैं तो बीच में इन्हीं के कारण हरि अन्तर्धान क्यों हुए ? श्रीमद्भागवत में कहा – गोपिकाओं का सौभाग्य मद एवं मान को देखकर उस मान और मद को शान्त करने एवं प्रसाद करने के लिये भगवान हरि अन्तर्धान हो गये ॥१२७-१२८॥

अत्राहुः प्रशमस्यापि प्रसादस्यापि संपदः ।
संपादनाय भावस्य हरिरन्तरधात्तदा ॥१२९॥

इस का उत्तर भक्त लोग यही देते हैं कि मान और मद को नष्ट करने के लिये ऐसा वहां अर्थ नहीं है । किन्तु मान और मद के बाद प्रशम तथा प्रसाद नाम के दो दिव्य गुणों को अधिक संपादन करने के लिये हरि अन्तर्धान हुए । ॥१२९।

अन्यथा नष्टदर्पासु घ्नतीवैक्षदितीरितः ।
रोषः कुतः समुद्भूतस्तस्मादुक्ताशयो ह्यृषिः ॥१३०॥

यदि मानदर्पादिनाशार्थ ऐसा अर्थ होता तो बाद में हरि के आविर्भूत होने पर "घ्नतीवैक्षत्" इत्यादि गोपिका के लिये कैसे बताया ? जिस का मान मद दर्पादि चूर हो गये वह क्या फिर रोष दिखायेगी ? दीन होकर केवल गिड गिडाती । अतः शुक देवजी का वही आशय है ॥१३०॥

परे तु प्राकृतो मानमदादिर्लेशतोऽभवत् ।
तस्य प्रशमनायेति पूर्वश्लोकाशयं जगुः ॥१३१॥

घ्नतीवैक्षत्तमित्यादौ दिव्यं दर्पादिकं शुभम् ।
अवशिष्टमभूदेतत्तत्राहेति प्रचक्षते ॥१३२॥

सर्वथाप्येव मन्तव्या भावा दिव्या अनेकशः
कान्तासक्तौ ततस्तस्या नोत्कर्षो विमतेः पदम् ॥१३३॥

दूसरे व्याख्याकार यह कहते हैं कि "मानिन्योऽभ्यधिकं भुवि" भुवि विशेषण से प्रथमश्लोकानुसार कुछ लौकिक मान मदादि गोपिकाओं में हो गया था। उस के प्रशमन के लिये हरि अन्तर्धान हो गये यह अर्थ है। "घ्नतीवैक्षत" इस श्लोक में दिव्य मानमद रोषादि अवशिष्ट रहे यह आशय है ऐसी व्याख्या करते हैं। सर्वथापि कान्तासक्ति में अनेक मानमदादि दिव्य भाव हैं ही। अत: सख्य की अपेक्षा कान्तासक्ति में उत्कर्ष निर्विवाद है ।१३१-१३३।

ननु पुंसु कथंकारं कान्तासक्तिः प्रजायताम् ।
तदभावेऽव्यापिकैषा नारीमात्रानुगामिनी ॥१३४॥

न च देवीस्वरूपे स्यान्माधुर्यमिति सांप्रतम् ।
मातृभावो हि तत्र स्यात्कान्तासक्तिस्तु नेष्यते ॥१३५॥

न च स्वपत्न्यां कृष्णत्वभावात्स्यात्सेति सांप्रतम् ।
तदप्रसिद्धेः शास्त्रेषु नेक्ष्यते तत्समर्थनम् ॥१३६॥

किंचोर्ध्वरेतसां का स्याद्गतिरित्याभिधीयताम् ।
कान्तासक्तिरतः सेयं योषित्स्वेव समञ्जसा ॥१३७॥

यह पूर्व पक्ष है कि यह कान्तासक्ति पुरुषों में कैसे होगी। पुरुषों में यह यदि नहीं होती है तो यह अव्यापक आसक्ति है। केवल नारी में रहती है। यह कहें कि देवीस्वरूप भगवान के प्रति कान्तासक्ति हो सकती है तो यह ठीक नहीं। देवी के प्रति मातृ-भाव ही होता है। स्वपत्नी में कृष्णभावना कर कान्तासक्ति संपादन भी संभव नहीं है। क्यों कि कहीं शास्त्र में ऐसा वर्णन नहीं है। फिर उर्ध्वरेता ब्रह्मचारी आदि के लिये क्या रास्ता? अतः कान्तासक्ति स्त्रियोंके लिये ही संभव है ॥१३४-१३७॥

दशधा पुंसु वक्तव्या भक्तिः स्यात्परमार्षिणा।
पौर्वापर्यक्रमस्यापि भङ्गः स्यात्पुंस्वभावतः ॥१३८॥

फिर देवर्षिको पुरुषों में दशधा भक्ति बताना चाहिये था। और हम अभी तक यही व्याख्या देखते आये कि पूर्व पूर्व भक्ति उत्तरोत्तर भक्ति में प्रयोजक है। उस क्रम का भी पुरुष में भङ्ग होगा ॥१३८॥

न च दत्तोत्तरमिदं तच्चित्तालम्बनत्वतः।
नाटकादिषु तद्युक्तं न खल्वत्रेति हि स्थितिः ॥१३९॥

इह क्रमेण ये भावा जायन्ते तानुदैरयत्।
देवर्षिर्न तु काव्यादिनैर्भक्तिरसं किल ॥१४०॥

एकदेशी यदि कहें कि भाई! इस का उत्तर पहले आ चुका है- "तच्चितालम्बनत्वेन स्वचित्तं तादृशं भवेत्" अर्थात् रस तो सभ्यों में प्रादुर्भूत होता है नायकादिचित्तालम्बन से सभ्यचित्त भी वैसा होगा। तब नायिका राधिका आदि के चित्त के आलम्बन से कान्तासक्ति भी तो होगी। तो एकदेशी से यही कहा जायेगा कि

नाटक, काव्य आदि स्थल में तच्चित्तालम्बन संभव है। यहां देवर्षि नारद नाटक काव्यादि से होने वाले नैमित्तिक रस वर्णन नहीं कर रहे। यहां तो ब्रह्म से उद्भूत होने वाले भक्तिरस का वर्णन किया जा रहा है। यहां तच्चित्तालम्बन की बात कहां से आयी? ॥१३९-१४०॥

अत्राहुर्भवतु स्त्रीणामेवासक्तिरियं हरौ।
तस्याः स्थानं सप्तमं स्यात्तद्दिदर्शयिषुर्मुनिः ॥१४१॥

सर्वत्र सर्वे भावाः स्युरित्येष नियमो न नः।
सभवन्तो यथास्थानं निर्दिष्टा मुनिनात्र तु ॥१४२॥

यहां कुछ लोग उत्तर यह देते हैं कि कान्तासक्ति वैसे तो स्त्रियों में ही होती है उस का स्थान सप्तम होने से वही यहाँ नारदजा दिखाना चाहते है। सभी भाव सभीं भक्तों में हो ऐस कोई नियम नहीं है। जो सभव है उनका ठीक स्थान यहां नारदी ने दिखा दिया ॥१४१-१४२॥.

परे व्याख्यान्ति गोलोके कृष्ण एकः पुमान् भवेत्।
अन्ये सर्वेऽपि गोप्यः स्युः कान्ताभक्तिस्ततो भवेत् ।१४३।

विदुरत्रापि मीराद्याः पुमांसं कृष्णमेककम्।
सनातनादेः पुंस्त्वं साद्यधिचिक्षेप मार्दवात् ॥१४४॥

दूसरे लोग कहते हैं कि गोलोक में एक कृष्ण ही पुरुष है। वाकी सब वहां पहुंचने पर गोपी बन जाती हैं। अतः सब में कान्ता सक्ति संभव है। 'मीरा' आदि स्त्रीभक्त तो भूलोक में भी केवल कृष्णको ही पुरुष मानती थी। गोस्वामियों ने स्त्रियों से मिलने के लिये अपनी असमर्थता व्यक्त कीं तो मीरां ने मीठे शब्दों में उन के पुरुषत्व की खबर ली थी ॥१४३-१४४॥

नारीभावं किल सखीसंप्रदायविदोऽविदुः ।
तस्मात् स्त्रीष्विव भावोऽयं पुंस्वपीति वदन्ति ते ॥१४५॥

सखीसंप्रदायवाले तो यहीं पर अपने को स्त्री मानते हैं। इसलिये पुरुषों में भी स्त्रियों का जैसा भाव वे कहते हैं ॥१४५॥

वयं पुनरिदं ब्रूमः सख्यवात्सल्ययोरपि
कथं न भवता तावदधिक्षेपो विधीयते ॥१४६॥

समत्वेऽभ्यधिकत्वे च सख्यवात्सल्यभावने ।
हरिणा न वयं तुल्याः कुतस्त्वभ्यधिकाः किल ॥१४७॥

***न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुत* इत्याह पाण्डवः ।**
एतमेवार्थमाहुः स्म श्वेताश्वतरशाखिनः ॥१४८॥

इस पूर्वपक्षका जवाव हम इस प्रकार देंगे कि कान्तभाव का अधिक्षेप करते समय सख्य एवं वात्सल्य का भी अधिक्षेप आप ने क्यों नहीं किया? समता होंने पर सख्य एवं अधिकता होनेपर वात्सल्य होता है। हम भगवान से न सम हैं अधिक तो कहां से होने लगे। गीता में अर्जुनने भी यही कहा-न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यः। श्वेताश्वतर उपनिषद में भी यही कहा-न तत्समश्चा-भ्यधिकश्च दृश्यते ॥१४६-१४८॥

तथात्वस्यातथाभूते यद्यारोपः समर्थ्यते ।
अकान्तेऽपि तथा कान्तभावश्चापि समर्थ्यताम् ॥१४९॥

यदि सख्य और वात्सल्य के बारे में आप यह कहते हैं कि वहां आरोप है असम में समता का और अनधिक में अधिकता का आरोप

है, तो अकान्ता पुरुष में कान्ताभाव का भी आरोप करने में क्या कठिनाई है? ।।१४९।।

वस्तुतो दिव्यमेव स्यात् सख्यं वात्सल्यमेव च ।
दिव्य एव तथा कान्तभावः पुंस्वपि बुध्यताम् ।।१५०।।

नारोपोऽस्ति पराभक्तौ न मिथ्यार्थोऽस्ति कश्चन ।
दिव्यभावेन सकलं समाधेयं महात्मभिः ।।१५१।।

इसका वास्तविक उत्तर यह है कि सख्य वात्सल्यादि आरोपित नहीं है। दिव्य हैं। वैसे कान्ताभाव भी दिव्य ही है। परा भक्ति में सिद्धान्नतः कोई आरोप नहीं होता, वहां कोई मिथ्या अर्थ नहीं होता। दिव्य भाव से सभी अनुपपत्तियों का वहां समाधान समझना चाहिये ।।१५०-१५१।।

न चैवं दिव्यभावेषु कथं क्रमिकता भवेत् ।
दर्शितत्वादनुपदमुत्कर्षस्य यथोत्तरम् ।।१५२।।

यदि सख्य कान्त वात्सल्यादि सभी दिव्य है तो क्रमिकता कैसे ? इस का उत्तर हम दे आये हैं कि ये उत्तरोत्तर उत्कृष्ट हैं। ।।१५२।।

नन्वत्र साधनं किं स्यात्कान्तभावो न लौकिकः ।
सत्यं सख्यादिभावोऽपि लौकिको नैव विद्यते ।।१५३।।

अन्यत्रास्तीति चेत्तेन हरिभक्तौ किमागतम्
नह्युप्तमवनौ बीजं खेऽङ्कुराय प्रकल्पते ।।१५४।।

गोपगोपीयशोदादौ सिद्धसख्यादिभावजम् ।
तच्चित्तालम्भनत्वं हि लौकिकं साधनत्रयम् ।।१५५।।

तदुत्थाल्लौकिकाद्भावाद्दिव्यभावः प्रकाशते ।
क्रमेणेति ततो भावत्रयमेतत्समञ्जसम् ॥१५६॥

परंतु श्रीकृष्ण में कान्तासक्ति होने में साधन क्या हो? ठीक है। सख्यादि भाव भी श्रीकृष्ण के प्रति न होने से सख्यादि आसक्ति में भी क्या साधन ?। देवदत्तादि मित्र प्रसिद्ध है, पुरुषोंका पति प्रसिद्ध नहीं, ऐसा कहो तो देवदत्त की मित्रता से हरि में सख्य कैसे हो? क्या जमींन में बीज पड़ा तो आसमान में अंकुर होगा?। अत: भागवतादि अध्ययन से गोप, गोपी, यशोदा आदि का चित्तालम्बन से क्रमश: दिव्यभावोत्पत्ति ही स्वीकार्य है ॥१५३-१५६॥

स्वीयं दास्यादि दासादिचित्तालम्बनतापि च
द्वयं स्याद्दिव्यदास्यादेरभिव्यञ्जनसाधनम् ॥१५७॥

दास्यादिमें विशेषता यह है कि अपना दासभाव तथा हनुमदादि चित्तालम्बनता ये दोनों ही दिव्यदास्यादिभाव के अभिव्यञ्जक हैं ॥१५७॥

परिपुष्टे सख्यभावे कान्तभावः प्रजायते ।
अंशत्वादर्धवृगलश्रुतेरप्युपपत्तितः ॥१५८॥

जब सख्यभाव परिपुष्ट होता है तब कान्ताभाव प्रकट होता है। ममैवांशो जीवलोके-जीव तो ईश्वरांश है ही। श्रुति में कान्ता को अर्धवृगल बताया। अर्ध शब्द अंशवाची है (समांशवाची नहीं अत: समस्त जीवों में कान्ताभाव उपपन्न भी है ॥१५८॥

कान्तासक्त्युत्तरोद्भूता वात्सल्यासक्तिरष्टमी ।
भोगाद्युपाधिरहिता निश्छला निर्मला परा ॥१५९॥

कान्तासक्ति के बाद आठवीं वात्सल्यासक्ति है। लौकिक कान्ताभाव में भोगादि उपाधि है। किन्तु वात्सल्य में वह नहीं है वह छल रहित एव निर्मल होता है ॥१५९॥

अकिंचनः स्वयं यत्र दास्यासक्तिस्तु सा भवेत् ।
तदीयवैपरीत्येन वात्सल्यासक्तिरिष्यते ॥१६०॥

अत एवात्र करुणरसं प्राज्ञाः प्रचक्षते ।
वात्सल्यरसतोऽभिन्नः करुणो रस इष्यते ॥१६१॥

जहां भक्त स्वयं अकिंचन हो और भगवान सर्वे सर्वा वहां दास्यरस है। इस से विपरीत होने पर वात्सल्यरस है। अर्थात भक्त स्वयं सर्वे सर्वा हो गया। भगवान् अकिंचन हो गये। वच्चे के लिये मातापिता सर्वे सर्वा हैं। और अपने से पृथक सत्ता वच्चे का न मानने से वह अकिंचन हुआ। वही वात यहां भी है। इसी अकिंचनभाव के कारण मनीषी लोग वात्सल्यभाव में करुणरस को ही मानते हैं। वात्सल्यरस और करुणरस को एक ही मानते हैं ॥१६०-१६१॥

स्वयं भक्तः समर्थोऽत्राऽसमर्थो भगवान् शिशुः
यशोदादिष्वसौ भावो हरिं प्रति विलोक्यते ॥१६२॥

वात्सल्यासक्ति में भक्त मातापितादि रूप में समर्थ एवं शिशुरूप में भगवान् असमर्थ होते हैं। यह भाव हरि के प्रति यशोदा आदि में स्पष्ट दृष्ट है। ॥१६२॥

अत्रापि दिव्या सामर्थ्यभावना हरिणा कृत ।
भक्तेषु लीलयेत्येतद्दशमे प्रस्फुटीकृतम् ॥१६३॥

यहां पर भक्त में सामर्थ्यभावना दिव्य है भगवान् लीला से उसे बनाया यह बात दशम स्कन्ध में स्पष्ट है ॥१६३॥

*सा तत्र ददृशे विश्वं जगत् स्थास्नु च खं दिशः।
साद्रिद्वीपाब्धिभूगोलं सवाय्वग्नीन्दुतारकम् ॥१६४॥

तद् दृष्ट्वा जगतां नाथं जन्मस्थितिलयाश्रयम्।
यशोदा प्राणमत्कृष्णं देवदेवेश्वरं प्रभुम् ॥१६५॥

इत्थं विदिततत्त्वायां गोपिकायां स ईश्वरः।
वैष्णवीं व्यतनोन्मायां पुत्रस्नेहमयीं विभुः ॥१६६॥

त्रय्या चोपनिषद्भिश्च सांख्ययोगैश्च सात्त्वतैः।
उपगीयमानमाहात्म्यं हरिं साऽमन्यतात्मजम्* ॥१६७॥

मायेति लीलामचष्टे पुत्रस्नेहमयी-यतः।
स्वान्यसत्ताविहीनस्तु स्वोत्पन्नः स्वात्मजस्तथा ॥१६८॥

दशम स्कन्ध में बात इस प्रकार आयी है कि मृद्भक्षणादि प्रसङ्ग में यशोदाने भगवान् के मुख में गिरि सागर भूगोलादि रूप सारे विश्व को देखा तो उन्हें भगवान् समझ कर प्रणाम किया। तब भगवान् पुत्रस्नेहमयी माया फैलाकर पुन पुत्रभावना उद्भूत की। यहां माया का अर्थ लीला है न कि भ्रान्ति। क्यों कि पुत्र स्नेहमयी यह विशेषण है। प्रेम कभी भ्रान्ति नहीं होता। उस लीला से निर्मित मातृभाव वास्तविक ऐवं दिव्य है। 'आत्मज' इस विशेषण से भगवान् में अकिंचनत्व दिखाया। मिट्टी से उत्पन्न घट में मृत्सत्तातिरिक्त सत्ता नहीं है। अत एव माता की दृष्टि में हरि में अतिरिक्त सत्ता न होने से अकिंचनता आयी ॥१६४-१६८॥

अथ वात्सल्यभक्तिर्हि कान्तासक्तेः कथं परा।
माधुर्यं सर्वतः श्रेष्ठं बहवो व्याचचक्षिरे ॥१६९॥

शृङ्गाररसमेवाहुः प्राज्ञाः सर्वरसोत्तरम्।
शृङ्गार एव माधुर्यं तस्मात्सर्वाधिकं मतम् ॥१७०॥

यः शृङ्गारो यमेवाहुर्माधुर्यं तदिहर्षिणा।
कान्तासक्तिरिति प्रोक्तं वात्सल्यं तत् कथं परम् ॥१७१॥

पूर्वपक्षी कहता है-कान्तासक्ति के बाद वात्सल्यासक्ति कह कर नारदजीने वात्सल्यासक्ति को अधिक श्रेष्ठ बताया है। शृङ्गाररस सर्वश्रेष्ठ है। शृङ्गार ही माधुर्य है उसीं को यहां कान्तासक्ति बताया। उस से श्रेष्ठ वात्सल्य किस प्रकार? ॥१६९-१७१॥

शान्तं दास्यं च सख्यं च वात्सल्यं मधुरं तथा।
उत्तरोत्तरतः श्रेष्ठं क्रमेणोक्तं महात्मभिः ॥१७२॥

शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य, और माधुर्य ये उत्तरोत्तर श्रेष्ठ है। उसी क्रम से महात्माओं ने इनका वर्णन भी किया है ॥१७२॥

अत्र ब्रूमः प्रकृत्या वा प्रतीत्या वेदमुच्यते।
नाद्यः पुत्रोद्भवे क्षीणं माधुर्यं प्रकृतेर्वशात् ॥१७३॥

इस पूर्वपक्ष का उत्तर हम यह देते हैं कि यह बताईयें-प्रकृतितः माधुर्य उत्कृष्ट है या प्रतीतितः। प्रथम कोटि ठीक नहीं। प्रकृति ऐसी है कि पुत्र उत्पन्न हुआ तो माधुर्यरस क्षीण हो जाता है। वात्सल्यरस पुत्र के प्रति आगे उभर आता है ॥१७३॥

ततः क्षिणोति माधुर्यं वात्सल्यरस उत्थितः ।
वृद्धानां किं हि माधुर्यं वात्सल्यं तु प्रवर्धते ॥१७४॥

इस से यह सिद्ध हुआ कि वात्सल्यरस उत्थित होने पर माधुर्य को दवा देता है । बूढ़ा बूढ़ी में क्या माधुर्य रस होगा? । उन में वच्चों के प्रति उत्कट वात्सल्यरस होता है ॥१७४॥

अतः प्रकृत्या वात्सल्यरसोऽन्यमभिभावयन् ।
माधुर्यादधिकत्वं स्वं व्यनक्तीति विनिश्चितम् ॥१७५॥

अत: प्रकृतित: माधुर्य को अभिभूत करने वाला वात्सल्यरस माधुयं से अपनी अधिकता व्यक्त करता है ॥१७५॥

अथ द्वितीयकोटिः स्यात् प्रतीत्या तत्परं भवेत् ।
तत्किं ग्राम्यसुखं ब्रूषे माधुर्यरसशब्दितम् ॥१७६॥

तदसत् केऽपि सभ्येषु माधुर्यात्मा विलोकितः ।
रसो ग्राम्यसुखात्मेति नैव स्वीकुर्वते बुधाः ॥१७७॥

यदि आप दूसरी कोटि को मानते हैं – प्रतीतित: माधुयं श्रेष्ठ है तो उस पर मेरा वक्तव्य यह है कि स्त्रीपुरुषों का ग्राम्यधर्मोत्पन्न सुख को आप माधुर्य रस मान रहे हैं क्या? । यह तो बिल्कुल नि:सार बात है । कोई भी विद्वान इसे नहीं मानता । नाटकादि में सभ्यों में माधुर्यरस होता है । तो क्या वहां ग्राम्यधर्म का व्यवहार होता है ? ॥१७६–१७७॥

यदि माधुर्यसत्प्रेमरसो माधुर्यमिष्यते ।
तं क्षिणात्येवे वात्सल्यरस इत्यन्ववदिषम् ॥१७८॥

यदि कहते है –ग्राम्य सुख माधुर्य नहीं है, माधुर्यप्रेमरस ही माधुर्य है तो उसको वात्सल्यरस अभिभूत कर देता है यह हम अभी अभी बता आये ॥१७८॥

दास्ये दिव्यो न कश्चिद्धि भावो लोकविलक्षणः।
स्वस्मिन् दास्यं प्रभौ स्वाम्यं लोकप्रत्ययगोचरम् ॥१७९॥

सख्ये समानभावोत्थाहंकृतिर्दिव्यरूपधृक्।
न समः प्रभुणा स्वं हि तस्मात्तत्त्वमलौकिकम् ॥१८०॥

कान्ताभावे तु मानाहंकारदर्पमदादयः।
दिव्यरूपधराः सन्ति न ते लौकिकताऽस्पृशः ॥१८१॥

वात्सल्ये त्वहमुत्कृष्टो वराकोऽयमितीदृशः।
अत्यन्तविपरीतोऽतिदिव्यभावोऽभिवीक्ष्यते ॥१८२॥

दास्यादि में क्रमशः उत्तरोत्तर उत्कर्ष स्पष्ट है। दास्यभाव में कोई खास दिव्यभाव नहीं है। मैं दास, प्रभु स्वामी यह ठीक ही है। यद्यपि यह भी दिव्यभाव ही है तथापि लोकविलक्षण नहीं है। लोक में भी ऐसा देखा जा सकता है। सख्य में समानता से जो अहंकार है वह दिव्य है। क्यों कि लोकतः परमात्मा और जीवात्मा में समता नहीं है। अतः समत्वादि अलोकगम्य है। कान्ताभाव में और भी आगे बढ़े। कभी मान कभी दर्प। सर्वेश्वर के साथ इन सबका कोई मेल नहीं है। किसी राजा के सामने हालिक मान मद नहींकरता। अतः कान्ताभावमें मानमदादि सभी दिव्य हैं। वात्सल्य में सो पराकाष्ठा है। मैं वड़ा कन्हैया बेचारा बच्चा यह अत्यन्त विपरीत है। अतः यह अति दिव्य है ॥१७९-१८२॥

क्व नभः परमाणुः क्व तत्राणुर्गगनायते ।
अणूयते च गगनं किमाश्चर्यमतः परम् ॥१८३॥

कहां आकाश और कहां परमाणु? यहां परमाणु तो गगन हो रहा है और गगन परमाणु हो रहा है, इस से अधिक आश्चर्य क्या है । प्रभु गगन समान बड़े हैं । भक्त परमाणु समान है । वात्सल्य में भक्त बन गया गगन और भगवान हो गये परमाणु ॥१८३॥

अतिदिव्यत्वमुत्कर्षो वात्सल्ये तेन सिध्यति ।
कान्तासक्त्युत्तरं तस्य कीर्त्तनं सुघटं ततः ॥१८४॥

इस लिये अतिदिव्यरूपी उत्कर्ष वात्सल्य रस में सिद्ध होता है। अतः कान्तासक्ति के बाद वात्सल्यासक्ति कथन सुसंगत है । ॥१८४॥

भोगोत्कर्षदृशस्ते तु माधुर्योत्कर्षमब्रुवन् ।
अभोगदृक् तु भगवान् प्रमाणं नारदो हि नः ॥१८५॥

माधुर्य को वात्सल्य से अधिक बतलानेवाले भोगोत्कर्ष दृष्टि से कह गये हैं। परंतु नारदजी की भोग में दृष्टि ही नहीं है । वे माधुर्य को वात्सल्य से अधिक कैसे कहते ? । भगवान् नारद ही हमारे लिये परम प्रमाण है। अत एव हम माधुर्य से वात्सल्य को ही उत्तर मानेंगे ॥१८५॥

ननु जम्पतिजन्मोक्तेः प्राथम्यं कान्तभावगम् ।
ततः किं यत्ततः पूर्वरत्यभावोऽपि दर्शितः ॥१८६॥

शंका होगी कि श्रुति में प्रथमरसरूप में "पतिश्च पत्नीचा भवतां" ऐसा दम्पति जन्म बताया । उस से जगत का जन्म है

अतः माधुर्य सर्वोत्कृष्ट है। उत्तर है कि माधुर्य पूर्वंभावी होने से उत्कृष्ट है तो उस से भी पूर्व एकाकिता और 'नैवारमत' यह रति का अभाव था उसी को श्रेष्ठ मानो ॥१८६॥

तस्मादतिघनात्मत्वात् स्थायित्वाद् दिव्यलक्षणात्।
वात्सल्यमधिकं सिद्धं प्रसिद्धे भावपञ्चकं ॥१८७॥

पुत्रादिप्रेम अतिघनीभूत होता है स्थायी होता है उसी दृष्टान्त से अतिघन एवं स्थायी होने से तथा पूर्वोक्तरीत्या अनेक दिव्यभाव-युक्त होने से प्रसिद्ध पांच भावों में वात्सल्य भाव ही महान है यह सिद्ध हुआ ॥१८७॥

निरूप्याष्टविधामेवमासक्तिं द्वैतलक्षणाम् ।
अथाद्वैतात्मिकासक्तिद्वितयी परमोच्यते ॥१८८॥

इस प्रकार अष्टविध आसक्ति बतायी जो द्वैतकालीन है। अब अद्वैतरूप दो परम आसक्ति कहने जा रहे हैं ॥१८८॥

तस्मिंश्च तज्जने चैव भेदो नास्तीत्युदीरितम् ।
अभेददर्शिनः सेयमासक्तिद्वितयी भवेत् ॥१८९॥

नारदजी ने भी अद्वैत स्वीकारा है। "तस्मिंस्तज्जने भेदाभावात्" यहां अद्वैत बताया है। अभेददर्शी के लिये अग्रिम दो आसक्तियां हैं ॥१८९॥

सर्वदर्शनकालीना ह्यासक्तिर्नवमी मता ।
तथाप्यद्वैतनिष्ठा सा सर्वं ब्रह्मेतिकीर्त्तनात् ॥१९०॥

यह नवमी आसक्ति सर्वदर्शनकालीन है। फिर भी अद्वैतनिष्ठ भी है। "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" यह अद्वैत दर्शन सर्वदर्शनकालीन है। ॥१९०॥

दास्यादौ च क्वचिद्यद्यप्यात्मनोऽस्ति समर्पणम् ।
तथापि नाद्वैतनिष्ठा भेदाभासप्रतिष्ठितेः ॥१९१॥

यद्यपि कहीं कहीं दास्यादि में भी आत्मसमर्पण है । तथापि वहां अद्वैतनिष्ठा नहीं है । वह तो भेदाभासमें ही प्रतिष्ठित है । ॥१९१॥

दासोऽहमित्यहंकारः क्वश्चित्तत्र प्रवर्त्तते ।
निवेदितात्मतायां तु सोऽहंकारोऽपि लीयते ॥१९२॥

दास्य में दासोऽहं ऐसा एक अहंकार रहता है । किन्तु आत्म-निवेदन में वह अहंकार भी नहीं रहता ॥१९२॥

निवेदने न चाहं स्याद् नाहम्यात्मनिवेदना ।
इय ततोऽनहंकारा भवत्यात्मनिवेदना ॥१९३॥

आत्मा का निवेदन किया तो अहं कैसे रहेगा । मैं निवेदन करता हूं ऐसा अहं रहा तो अहं का निवेदन किया नहीं, तब आत्म निवेदन क्या? ॥१९३॥

अस्याश्चाद्वैतनिष्ठत्वाच्छ्रेष्ठत्वं सुप्रतिष्ठितम् ।
अहंत्वाभावहेतोः स्यादतिनिर्मलतापि च ॥१९४॥

यह अद्वैतनिष्ठ होने से पूर्वापेक्षया श्रेष्ठ है । अहंभाव के न होने से अत्यन्त निर्मल भी है ॥१९४॥

यद्वा निवेदितात्मत्वे सर्वभावानुभाविता ।
सर्वाहंकाररूपत्वाद् दिव्यैकरसरूपता ॥१९५॥

आत्मनिवेदन का दूसरा रूप है–सर्वभावयुक्तता। सर्वाहंकार होने से ही दिव्य तथा पूर्वापेक्षया श्रेष्ठ है ॥१९५॥

माता पिता पतिः पुत्रो बन्धुर्मित्रं सुहृज्जनः।
सर्वं चाहंच भगवान् भवेदात्मनिवेदने ॥१९६॥

माता, पिता, पति, पुत्रादि सभी और स्वयं भी स्वयं के लिये भगवान ही आत्मनिवेदन में हो जाता है ॥१९६॥

मातापित्रादिभावश्चाप्यात्मभावस्तथैव च।
सर्वभावा इति प्रोक्ताः भजत्यतैर्निवेदकः ॥१९७॥

माता पिता आदि भाव और आत्मभाव यही तो सर्वभाव है इन से निवेदक भक्ति करता है-स "सर्वविद् भजति मां सर्वभावेन" का यही अर्थ है ॥१९७॥

***पतिपुत्रसुहृद्भ्रातृपितृवन्मित्रवद्धरिम्।**
ये ध्यायन्ति सदोद्युक्तास्तेभ्योऽपीह नमो नमः*॥१९८॥

इति नारायणव्यूहस्तवे तदुपलक्षणम्।
आत्मभावोऽपि संग्राह्यो न ह्यात्मैषोऽपराधभाक्॥१९९॥

नारायणव्यूहस्तव में पति पुत्रादि समस्त भाव करनेवाले भक्तों को प्रणाम बताया। वहां उपलक्षणतया आत्मभाव भी ग्राह्य है। पति पुत्रादि सब भगवान है तो आत्माने ही क्या अपराध किया कि वह भगवान नहीं है ॥१९८–१९९॥

येषामहं प्रियो ह्यात्मा सुतश्चैव सखा गुरुः।
सुहृदो दैवमिष्टं चेत्यात्मभावोऽपि दर्शितः ॥२००॥

"येषामहं प्रिय आत्मा" इत्यादि वचन में स्पष्ट ही आत्मभाव प्रथम ही गृहीत हुआ है। अतोऽपि आत्मभाव भी ग्राह्य है।
॥२००॥

तस्मान्न द्वैतभावोऽत्र शङ्क्यो जीवपरात्मनोः।
अद्वैतनिष्ठता तेन सर्वभावेऽपि सुस्थिता ॥२०१॥

आत्मभावग्रहण पर हम जोर इस लिये लगा रहे हैं कि एक तो आत्मनिवेदन शब्द का अर्थ तभी लगता है, दूसरा, द्वैतवादी वृथा द्वैतका आग्रह भी न करें ॥२०१॥

अथ वात्मपदेनात्र देहेन्द्रियहृदादयः।
गृह्यन्ते सकलास्तेषां निवेदनमिहोच्यते ॥२०२॥

अथवा यहां आत्मा पदका शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि अन्तरात्मा सभी ग्राह्य हैं। इन सब में आत्मा शब्द का प्रयोग आया है। इन सबका निवेदन आत्मनिवेदन है ॥२०२॥

स वै मनो हरेरङ्घ्रयोर्वचांसि गुणवर्णने।
करौ चक्रे मार्जनादौ श्रुती हरिकथोदये ॥२०३॥

मुकुन्ददर्शने नेत्रे तद्भृत्यस्पर्शने त्वचम्।
घ्राणं तुलस्याद्याघ्राणे रसनां च तदर्पिते ॥२०४॥

पादा भिवन्दने शीर्षं पादौ क्षेत्रोपसर्पणे।
कामं दास्याय च यथोत्तमश्लोकजने रतिः ॥२०५॥

इत्येवमम्बरीषादेः सर्वाङ्गविनियोजनम् ।
यद्विष्ण्वर्थं तथावृत्तिरत्रात्मविनिवेदनम् ॥२०६॥

अम्बरीष के प्रसङ्ग में आता है कि अम्बरीष ने अपने मन को हरिचरणस्मरण में लगाया। वाणी को भगवद्‌गुणवर्णन में, हाथ को मंदिरमार्जनादि में, श्रोत्र को हरि कथा श्रवण में, नेत्र को मुकुन्दमूर्त्तिदर्शन में, त्वक् को भगवद्‌भृत्यचरणस्पर्श में, नासिका को तुलसी आदि सूंघने में, जिह्वा को भगवानका भोग प्रसाद ग्रहण करने में, मस्तक को हरिपादाभिवन्दन में, पादों को मंदिरादिगमन में, एवं विषयभोगादि को सेवा योग्य शरीर रक्षादि में विनियुक्त किया ॥२०३-२०६॥

सत्यप्यत्र मते किंचिद्‌द्वैतलेशावलोकने ।
सर्वभावसमावेशादुत्कर्षः स्यान्निवेदिनाम् ॥२०७॥

इस मत में यद्यपि थोड़ा द्वैतदर्शन प्रतीत होत है। तथापि सकल भावों का एक साथ समावेश होने से पूर्वोक्त दास्य सख्यादि से उत्कर्ष है ॥२०७॥

सर्वार्थेक्षणकालीनमवोच्यात्मनिवेदनम् ।
अथ तन्मयतासक्तिर्दशमी तु ततः परा ॥२०८॥

आत्मनिवेदन चाहे द्वैतकालीन हो चाहे अद्वैतकालीन। सर्वथापि सर्व जगत् दर्शन तो है ही। अव उस से आगे तन्मयता सक्ति कही जा रही है ॥२०८॥

इयं तन्मयतासक्तिः सर्वभेदनिरासकृत् ।
स्मृतिशुद्धेरर्थमात्रानिर्भासा संप्रवर्त्तते ॥२०९॥

इस तन्मयतासक्ति में समस्त द्वैत समाप्त होता है। स्मृति की परिशुद्धि होने पर केवल भगवत् मात्रका जहां निर्भास होता है वही तन्मयता है ॥२०९॥

***ता मन्मनस्का मत्प्राणा मदर्थे त्यक्तदैहिकाः।**
मामेव दयितं प्रेष्ठमात्मानं मनसा गताः* ॥२१०॥

***एवंविधा भगवतो या वृन्दावनचारिणः।**
वर्णयन्त्यो मिथो गोप्यः क्रीडास्तन्मयतां गताः*॥२११॥

इत्यादौ तन्मयत्वं च तत्र तत्र प्रदर्शितम्।
क्वचित्तद्रूपतापत्तिरपि स्यात्तन्मयत्वतः ॥२१२॥

"ता मन्मनस्काः" इत्यादि भागवत श्लोक में तन्मयता का वर्णन किया है। अर्थात् चिन्तन करते करते या कथा वर्णन करते करते सारे विश्व को भूलकर निश्चेष्ट सी गोपियां तन्मय होती थी कहीं कहीं तो तन्मयता में तद्रूपता ही हो जाती थी ॥२१०-२१२॥

***तमेव परमात्मानं जारबुद्ध्यापि संगताः**
जहुर्गुणमयं देहं सद्यः प्रक्षीणबन्धनाः* ॥२१३॥

इत्येवं गुणहानेन कृष्णसंगमवर्णने।
***गुणप्रवाहोपरमस्तासां गुणधियां कथम्* ॥२१४॥**

इति राज्ञा कृतप्रश्नो भगवान् बादरायणिः।
तन्मयत्वं हि गोपीनां प्रददर्शोत्तरात्मना ॥२१५॥

***कामं क्रोधं भयं स्नेह मैक्यं सौहृदमेव च।**
नित्यं हरौ विदधतो यान्ति तन्मयतां हि ते * ॥२१६॥

श्रीमद्भागवत में रासलीलाप्रसङ्ग में–जिन को घर से निकलने का मौका नहीं मिला वे गोपियाँ भगवान का स्मरण करती हुई ही गुणमय शरीर को त्याग कर भगवान को प्राप्त हो गयी, ऐसा बताया। इस पर राजाने प्रश्न किया ये जारबुद्धिवाली तत्त्वज्ञानी थी नहीं, उनका गुणप्रवाहउपरम कैसा ? इस के उत्तर में शुकदेवजी ने-काम-क्रोधादि समस्त भावों को जो हरि में करते हैं वे तन्मयता प्राप्त करते हैं, बताया ॥२१३–२१६॥

सर्वभावसमावेशः प्रादर्श्यात्मनिवेदने।
तद्वतस्तन्मयत्व तु युक्तमेवाभ्यधीयत ॥२१७॥

हमने आत्मनिवेदन की व्याख्या में सर्व भाव दिखाया। आत्म निवेदन से तन्मयता रूपी अग्रिम सोपान आता हो है। अतः सर्व भावोत्तर तन्मयता प्राप्त होती हैं, यह भागवतोक्ति तो आसानीसे समझ में आ गयी ॥२९७॥

जहुर्गुणमयं देहमित्येतद्यदुदीरितम्।
तन्मयत्वेन रूपेण वर्णितं परमर्षिणा ॥२१८॥

"जहुर्गुणमयं देहं" पर उठे प्रश्न का "तन्मयतां यान्ति" से उत्तर दिया अतः केवल मरना ही अर्थ नहीं किन्तु मरने पर जो द्वैतदर्शन का अभाव होता है वही सूचित होता है ॥२१८॥

तत्र तन्मयताशब्दाद् द्वैतादर्शनमिष्यते।
गुणप्रवाहोपरमाक्षेपश्च मरणे कथम् ॥२१९॥

अतः तन्मयता से द्वैतादर्शन विवक्षित है। अत एव "गुण प्रवाहोपरमः कथं" यह राजा का प्रश्न भी उपपन्न होता है। मर गयी इतने के लिये गुणप्रवाहोपरम का आक्षेप अन्यथा संगत न होता ॥२१९॥

तस्मादद्वैतभावेनावस्थानं मरणं मतम् ।
पुण्यपापप्रहाणेन देहत्यागोऽन्तराभवः ॥२२०॥

तदेव तन्मयत्वं च तच्चैतत्सर्वतोऽधिकम् ।
सर्वभावोत्तरोत्पत्ते रसमात्रकलेवरम् ॥२२१॥

अतः राजा के गुणप्रवाहोपरम प्रश्न के अनुसार मरण तो अद्वैतभाव से अवस्थान ही विवक्षित है। पुण्य और पाप के समाप्त होने से देहत्याग तो बीच में आयी एक घटनामात्र है। यहीं तन्मयता है। यह सर्वतः श्रेष्ठ है। क्यों कि सर्वभाव के बाद की अवस्था होने से रस मात्र इस का स्वरूप है। भावोपाधि तों शून्य के बराबर है ॥२२०-२२१॥

एकादशी तु परमविरहासक्तिशब्दिता ।
शब्दागम्यापि मुनिना शब्देन प्रतिपादिता ॥२२२॥

ग्यारहवीं भक्ति परमविरहासक्ति है। यह शब्दगम्य न होने पर भी नारदजी ने शब्द से समझाया ॥२२२॥

परमं प्रेम परमं व्याकुलत्वं च युज्यते ।
परमो विरहः कोऽयमप्रयुक्तपदोदितः ॥२२३॥

परम प्रेम समझ में आता है। परम व्याकुलता भीं कुछ कुछ समझ में आती है। यह परम विरह क्या है? ऐसा शब्दप्रयोग देखनें में नहीं आया हैं ॥२२३॥

अतिव्याकुलता दृष्टा प्रयुक्तापि च लौकिकैः ।
परमव्याकुलत्वं चाप्यप्रसिद्धमिवेक्ष्यते ॥२२४॥

अति व्याकुल अत्यन्त व्याकुल इत्यादि प्रयोग लोक में होता है। परम व्याकुल ऐसा प्रयोग भी वास्तव में अप्रसिद्ध ही है ॥२२४॥

उत्तमत्वमहिष्ठत्वे व्यनक्ति परमं पदम् ।
नहि व्याकुलतां तावदुत्तमां लौकिका विदुः ॥२२५॥

उत्तमत्व एवं महत्व इन दोनों को व्यक्त करने के लिये परम शब्द का प्रयोग होता है-जैसे परम सुन्दर इत्यादि। व्याकुलता में क्या उत्तमता हो। उत्तम वस्तु उपादेय होती है। क्या व्याकुलता उपादेय है ? यदि है तो लोग उसे मिटाने की प्रवृत्ति क्यों करते हैं? ॥२२५॥

संपाद्यमुत्तमं प्रोक्तं व्याकुलत्वं तथा यदि ।
अलौकिकमिदं नूनं देवर्षिस्तदिदं जगौ ॥२२६॥

उत्तम या परम हो तो वह प्राप्तव्य होगा। अपनेय नहीं। तब व्याकुलत्व यदि परम है तो वह संपाद्य है यह निश्चित है। तब यह संपादनीय व्याकुलत्व तो अलौकिक ही होगा। यही तो नारदजी भी दिखाना चाहते हैं ॥२२६॥

ननु तद् व्याकुलत्वं तु भगवद्विस्मृतेर्भवेत् ।
भगवद्विस्मृतिः किन्तु संपाद्या नैव संभवेत् ॥२२७॥

मैवं नैवापवादोऽस्ति विस्मृतेरित्युदीरितम् ।
व्याख्यातं च मया पूर्वं तस्मान्नानुपपन्नता ॥२२८॥

व्याकुलत्व उपादेय कैसा? वह तो भगवद्विस्मृतिमूलक बताया है। यदि व्याकुलता उपादेय हो तो उस का कारणीभूत भगवद्विस्मरण भी उपादेय होना चाहिये। यह अयुक्त है। उत्तर यह है कि विस्मृति का भी अपवाद नहीं किया जा सकता ऐसा स्वयं देवर्षि ने ही बताया "तत्रापि न माहात्म्यज्ञानविस्मृत्यपवादः" विशेष व्याख्या पहले आ चुकी है। अतः यहां अब अधिक वक्तव्य नही है। (इस सूत्र में स्मरणासक्ति की व्याख्या भी द्रष्टव्य है) ।।२२७-२२८।।

परमो विरहोऽप्येवमुपादेयो निगद्यते।
अतोऽलौकिक एषोऽपि देवर्षेर्भाति संमतः ।।२२९।।

प्राप्तस्यैव वियोगं तु विरहं केचनाब्रुवन्।
तन्नाऽप्राप्तेऽपि विरहशब्दः काव्येषु दृश्यते ।।२३०।।

कुछ लोग प्राप्त के वियोग को ही विरह मानते हैं। परंतु वह सही नहीं है। काव्यों में अप्राप्त का भी विरह बताया है। जैसे दमयन्ती हंस के मुख से नलगुणवर्णन सुनकर ही विरहव्याकुल होती है। ।।२२९-२३०।।

यस्मिन्नासज्यते चित्तं विरहस्तदभावतः।
प्रायो भवति सर्वेषां ततो व्याकुलतोद्भवेत् ।।२३१।।

जिस में चित्त आसक्त होता है उस के अभाव से विरह प्राय सब को होता है उस से व्याकुलता होती है ।।२३१।।

प्राप्तेऽपि विरहो यत्र परा व्याकुलतापि च।
तमेव परमं प्राहुर्विरहं प्रेमवेदिनः ।।२३२।।

जहां प्राप्त में भी विरह हो, भारी व्याकुलता भी हो उसे प्रेमवेत्ता परम विरह कहते हैं ।।२३२।।

स्मरणे विस्मृतिर्यद्वत्प्रागस्माभिर्निरूपिता ।
प्राप्तेऽपि विरहस्तद्वत्प्रेमलोकेऽवलोकितः ।।२३३।।

स्मरण में भी विस्मरण हम ने पहले दिखाया । वैसे प्राप्त में भी विरह प्रेम जगत् में देखा गया है ।।२३३।।

अङ्कस्थितेऽपि दयिते राधा हा हेति रोदिति ।
तत्तु भाविवियोगानुस्मरणादिति केचन ।।२३४।।

वस्तुतः परकीयाख्यभावात् संयोगवत्यपि ।
प्रतिक्षणं हि विरहो जागर्त्ति हृदये सताम् ।।२३५।।

दयित श्रीकृष्ण गोद में सिर रखकर सो रहे हैं। राधिका आह भर रही है। यह कैसा ? कुछ लोग कहते हैं–प्रातः होने पर विरह होगा । उस भावी विरह को सोचकर रो रही है । नहीं । सच बात यह है कि जहां परकीया भाव होता है वहां संयोग में प्रतिक्षण विरह जागृत रहता है ।।२३४–२३५।।

सा त्वस्मिन्निति सूत्रस्य सम्यगर्थान्तरे मया ।
अन्यपर्यायतां त्वस्य वदतैतत्प्रकाशितम् ।।२३६।।

सा त्वस्मिन् परमप्रेमरूपा इस सूत्र की व्याख्या में त्वस्मिन् में त्व पद को अन्यपर्याय बताते हुए द्वितीयार्थ में इस का निरूपण हो गया है ।।२३६।।

परकीयाख्यभावेऽयं सुगमत्वान्निरूपितः ।
परप्रेम्णि परत्रापि परमो विरहो मतः ॥२३७॥

परम विरह परकीयाभाव में होता है यह हम ने सुगम होने से बताया। वस्तुतः जो परकीयभावरहित है उस परम प्रेम में भी यह परम विरह रहता है ॥२३७॥

हेतुर्न शक्यते वक्तुमनिर्वाच्यत्वकारणात् ।
विलक्षणपदेनैव मुनिनैतत्प्रकाशितम् ॥२३८॥

परकीया भाव न हो तब संयोगकालीन परम विरह कैसा? इस विषय में हेतु निरूपण कठिन है। प्रेम अनिर्वचनीय है उस में क्या निर्वचन हो। नारदजीने 'परमविरह' ऐसे विलक्षणपद से इसका प्रकाशन किया ॥२३८॥

यमत्र परमं प्राह विरहं भगवानृषिः ।
तामाहुः परमां काष्ठां प्रेम्णोऽनन्तात्मनोऽपि हि॥२३९॥

यहां जिस परम विरह को भगवन नारदजीने बताया यही प्रेम की पराकाष्ठा है। भले वह काष्ठारहित हो अनन्त हो। अर्थात् प्रतिक्षण वर्धमान की भी यही परिसीमा है ॥२३९॥

विरहे सति संयोगो दृष्टो लोके रसात्मकः
लोकेऽनित्यावुभौ भक्तौ नित्यौ दिव्यौ सतां मतौ ।२४०।

विरह हो तो ही संयोग रसरूप होता है यह लोक में देखा गया है। हां,लोक में विरह एवं संयोग दोनों अनित्य है। भक्ति में दोनों नित्य एवं दिव्य हैं ॥२४०॥

अनन्तरसरूपश्च संयोगः शाश्वतो हरेः ।
अनन्तरसरूपश्च विरहः शाश्वतो हरेः ॥२४१॥

अनन्तरसरूपा च परा व्याकुलता मता ।
अनन्तरसरूपं च श्रीहरः प्रेम भण्यते ॥२४२॥

परमश्चैव संयोगः परमो विरहस्तथा ।
परमं व्याकुलत्वं च परमं प्रेम कीर्त्यते ॥२४३॥

हरि का शाश्वत संयोग भी अनन्तरसरूप है। हरिका शाश्वत विरह भी अनन्तरसरूप है। परम व्याकुलता भी अनन्तरसरूप है। हरि का प्रेम भी अनन्तरसरूप है। अनन्त संयोग, अनन्त विरह एवं अनन्त व्याकुलता के मिलने पर हरिप्रेम ही परमप्रेम कहलाता है ॥२४१-२४३॥

इदं हि परमं प्रेम भक्तिरित्याभिधीयते ।
दद्यां मुक्तिं नैव भक्तिमिति यामगदीद्धरिः ॥२४४॥

यही परम प्रेम भक्ति है। जिस के बारेमें ही भगवान् ने बताया मैं मुक्ति देता हूं किन्तु भक्ति नहीं ॥२४४॥

इत्थं व्याख्यायि सोत्कर्षसापकर्षव्यवस्थया ।
सत्रं साधकदृष्टचैतत् सिद्धदृष्ट्या तु नो तथा ॥२४५॥

इस प्रकार हम ने गुणमाहात्म्यादि आसक्ति को सोत्कर्ष एवं सापकर्षरूप से बताया। परंतु यह साधकदृष्टि से है। सिद्धदृष्टि से यह उत्कर्षापकर्षभेद नहीं है ॥२४५॥

एकधापीति भक्तिं तु सिद्धामादाय वर्ण्यते।
सैवैकादशधा भक्तिराश्रयाणां विभेदतः ॥२४६॥

सिद्धभक्ति को लेकर एकधा बताया। वही भक्ति आश्रय भेद से एकादशधा हो गयी ॥२४६॥

अग्रिमे गणयिष्यन्ते सूत्रे सिद्धा महोदयाः।
तेष्वासक्तिविभेदेऽपि न न्यूनाधिकभाविता ॥२४७॥

अग्रिम सूत्र में सिद्ध भक्तों की परिगणना होगी। उन में आसक्तिभेद होने पर भी न्युनाधिकभाव नहीं है ॥२४७॥

नमामि गुणमाहात्म्याद्यासक्तिरससंप्लुतान्।
भक्तान् प्रेमनिमग्नो याननुयाति हरिः स्वयम् ॥२४८॥

* निरपेक्षं मुनिं शान्तं निर्वैरं समदर्शनम्।
अनुव्रजाम्यहं नित्यं पूयेयेत्यङ्घ्रिरेणुभिः* ॥२४९॥

इत्येवं भगवान् यद्धि निजगादोद्धवं प्रति।
तदुक्तभक्तविषयमिति सर्वं समञ्जसम् ॥२५०॥

इस प्रकार व्याख्यात गुणमहात्म्यादि के आसक्तिरस से भरपूर भक्तों को हम प्रणाम करते है जिन के पीछे पीछे प्रेम निमग्न हरि घूमते हैं। "निरपेक्षंमुनिं शान्तं" इत्यादि भागवत श्लोक में भगवान ने उद्धवके प्रति इन पूर्वोक्त भक्तों का ही निर्देश किया है ॥२४८-२५०॥

नमः प्रेमस्वरूपाय हरये परमात्मने।
परप्रेमस्वरूपेभ्यो भक्तेभ्यश्च नमो नमः ॥२५१॥

ॐ

प्रेमस्वरूप हरि को प्रणाम हो । और परप्रेमस्वरुप भक्तों को भी बारबार प्रमाण हो ॥२५१॥

इति भक्तिरहस्यानिरूपणम् ।

ॐ

संशयादिनिरासार्थं महतां स्मरणाय च ।
तेषां पूजार्थमपि त उत्कीर्त्यन्ते मतोक्तितः ॥१॥

व्याख्यात भक्ति के विषय में किसी प्रकार का संशय न रह जाय इस के लिये, महा पुरुषों के स्मरण के लिये तथा उन की पूजा संमान के लिये उन का मत दिखाते हुए उत्कीर्त्तन करते हैं ॥१॥

इत्येवं वदन्ति जनजल्पनिर्भया एकमताः कुमारव्यासशुकशाण्डिल्यविष्णुकौण्डिन्यशेषोद्धवारुणिबलिहनुमद्विभीषणादयो भक्ताचार्याः ॥८३॥

इस प्रकार लोकाक्षेपादि से निर्भय सनकादि एवं व्यासशुकादि भक्ताचार्य एक मत हो कर कहते हैं ॥८३॥

इति शब्दः पूर्वसूत्रदर्शितार्थविमर्शकः ।
इत्येके सकलं शास्त्रमपरे त्वितिशब्दतः ॥२॥

इति शब्द पूर्व सूत्र में प्रदर्शित अर्थ का परामर्शक है ऐसा

कुछ लोग मानते हैं। दूसरों का कहना है कि इति माने पूर्वोक्त पूरा प्रकरण या पूरा शास्त्र ॥२॥

ननु नानामतं पूर्वं लक्षणोक्तौ प्रदर्शितम्।
सत्यं तथैव सर्वेऽपि वदन्तीत्यत्र का क्षतिः ॥३॥

पाराशर्यश्च गर्गश्च शाण्डिल्यो नारदस्तथा।
प्रत्येकं प्रवदन्त्येतत् प्रोक्तं मतचतुष्टयम् ॥४॥

शंका होगी कि पहले "पूजादिष्वनुराग इति पाराशर्यः" इत्यादि से नाना मत दिखाया। तब सब लोग एक बात तो नही कह रहे। उत्तर है कि इन चारों मतों को चारों आचार्य इन्हीं नामों से बोलते हैं। अर्थात् पाराशर्य, गर्ग, शाण्डिल्य और नारद ये चारों उपदेश देते समय प्रत्येक इन चार विकल्पों को सामने रखते हैं ॥३-४॥

नन्वत्रानुपदं तावद् वाच्यमेकमता इति।
लक्षणेषु पुरोक्तेषु मतैक्यं नावलोक्यते ॥५॥

वदन्तु नाम चत्वारि मतानि सकला अपि।
तथापि स्वमतं तत्र भिन्नमेवावतिष्ठते ॥६॥

परंतु इस पर फिर भी शंका होती है कि इसी सूत्र में आगे 'एकमताः' बताया है। भले चारों ऋषि चारों मतों को बोले किन्तु अपना अपना मत तो अलग ही है ॥५-६॥

सत्यमेकमतेत्येतदविरोधित्वबोधकम्।
न च तेषु विरोधोऽस्तीत्येतत् प्राक् सुनिरूपितम् ॥७॥

बात सत्य है। किन्तु यहां एकमत शब्द अविरोध सूचक है। इन चारों मतों में परस्पर विरोध नहीं, यह बात हम पहले ही कह आये हैं ॥७॥

एवं शब्दः प्रकारार्थः शब्दैक्यस्यानवेक्षणात् ।
आचार्याणां भवेच्छब्दभेदो नार्थस्तु भिद्यते ॥८॥

'इत्येवं' सूत्र में 'एवं' शब्द का प्रकार अर्थ है। पूर्वोक्त प्रकार से कहते हैं न कि वहो का वही। आचार्यो के शब्दों में भेद होगा। किन्तु अर्थ एक रहेगा ॥८॥

किं च संक्षेपविस्तारतारतम्यावलोकनात् ।
अर्थेऽप्येकप्रकारत्वं नत्वैक्यमिति हि स्थितिः ॥९॥

केवल शब्द में ही प्रकारैक्य नहों, अर्थ में भी प्रकारैक्य ही है न कि अर्थ की भी एकता क्यों कि कहीं संक्षेप में वर्णन है तो कहीं विस्नार से। तब अर्थ की एकता नहीं, एकप्रकारता ही है। ॥९॥

लोकवेदादिसंन्यासे लोकहानावचिन्तने ।
तथान्यत्रापि सर्वे ते जनसंजल्पनिर्भयाः ॥१०॥

पूर्व वर्णित लोकवेदसंन्यास में, लोकहानि के होनेपर भी निश्चिन्त रहने में एवं अन्यत्र लोकापवाददि भय प्रसंगमें सनकादि एवं व्यासादि निर्भय हैं यही 'जनजल्पनिर्भयाः' का अर्थ है ॥१०॥

जनजल्पनभीरूणां सत्याच्छादनमापतेत् ।
अतोऽत्र सत्यसारत्वं निभर्यत्वेन सूच्यते ॥११॥

अतश्चैतदुपादेयं श्रेयोऽर्थिभिरतन्द्रितम् ।
नैव पातित्यशङ्का स्यात्सत्यमार्गावलम्बिनाम् ॥१२॥

जनापवादभय होनेपर कहीं कहीं सत्यपर पड़दा डालना पड़ेगा। यहां निर्भयता कह कर शास्त्र की सत्यसारता सूचित की। अत एव यह 'श्रेयोभिकांक्षी के लिये उपोदय भी है। क्यों कि सत्य मार्ग से चलनेवालों के लिये कहीं भी पतनशङ्का नहीं रहती ॥११-१२॥

आचिन्वन्ति च शास्त्रार्थमाचारे स्थापयन्ति च ।
आचरन्ति स्वयं भक्तिं भक्ताचार्या मनास्विनः ॥१३॥

शास्त्रों के अर्थ का आचयन करने से आचार्य, आचरण में लोगों को लगाने से आचार्य और स्वयं आचरण करने से आचार्य कहलाते हैं। भक्ति विषय में पूर्वोक्त सभी भक्ताचार्य हैं ॥१३॥

कुमारव्यासशाण्डिल्यशुकादीन् सकलान् गुरून् ।
नमस्यामः पराभक्त्या पादपातं महीयसः ॥१४॥

ॐ

कुमार, व्यास, शाण्डिल्य, शुकदेव आदि समस्त परमगुरुओं के चरणों में पड़कर हम प्रणाम करते हैं ॥१४॥

ॐ

ननु नारदनामात्र कुमारादिषु नाब्रवीत् ।
कुतश्चेत् स्वयमेवैतच्छास्त्रकर्ता हि नारदः ॥१॥

पूर्व सूत्र में कुमार व्यासादि का नाम लेते हुए नारदजी को क्यों भूल गये ? भूले नहीं। इस शास्त्र के रचयिता स्वयं नारदजी जो ठहरे ॥१॥

स्वनाम संप्रदर्श्यैव वक्तव्यं किंचनाऽपरम् ।
प्रब्रुवन्नुपसंहारं करोति मुनिपुङ्गवः ॥२॥

अत एव अब अन्तिम सूत्र में लोकमङ्गलार्थ स्वनाम दिखाते हुए कुछ शेष वक्तव्य को भी कहते हुए देवर्षि नारद उपसंहार करते हैं ॥२॥

य इदं नारदप्रोक्तं शिवानुशासनं विश्वसिति श्रद्धत्ते स प्रेष्ठं लभते स प्रेष्ठं लभत इति ॥८४॥

जो इस नारद प्रोक्त शिवानुशासन पर विश्वास एवं श्रद्धा रखता है वह प्रियतम को प्राप्त होता है, प्रियतम को प्राप्त होता है, इति ॥८४॥

य इदं नारदप्रोक्तं प्रकर्षेण समीरितम् ।
नारं दत्ते ध्यतीत्यादिदर्शितेनानुवर्णितम् ॥३॥

नारदप्रोक्तं में प्रोक्तं का प्रकर्षतया बताया हुआ अर्थ है। नारद का अर्थ हम पहले ही विस्तार पूर्वक कह आये हैं। –नार= प्रेम को द=देनेवाला नार=अज्ञान को द=नष्ट करनेवाला इत्यादि ॥३॥

यद्वा प्रवचनैर्यद्धि ज्ञापितं प्रोक्तमुच्यते ।
अनादिकालसिद्धेयं भक्ताचार्यपरम्परा ॥४॥

अथवा जो प्रवचन से ज्ञापित हो उसे प्रोक्त कहते हैं। नारदजी ने भक्ति मार्ग बनाया नहीं। वह अनादि–आचार्यपरम्परा–सिद्ध है ॥४॥

शिवानुशासनं नाम शिवं तदनुशासनम् ।
यद्वा शिवस्य शम्भोर्यदनुशासनमादितः ॥५॥

वैष्णवानां यथा शम्भुर्ज्ञानमिच्छेत्तु शंकरात् ।
तन्त्रप्रवचनाच्चैव शिवस्याद्यानुशासनम् ॥६॥

शिवानुशासन का अर्थ है – मङ्गल अनुशासन। अथवा शिव अर्थात् शंकर कृत अनुशासन। "वैष्णवानां यथा शम्भुः" इस प्रकार शंकर को सर्व वैष्णवों में श्रेष्ठ माना है। "ज्ञानमिच्छेत्तु शंकरात्" में अनुशासयिता बताया है। भगवान शंकर ने ही अधिक तर तन्त्रों का प्रवचन किया है। अतः यह भक्तितन्त्र प्राथमिक शिवानुशासन है ॥५–६॥

शिवेन शिष्टं तदनु पश्चाद्देवर्षिणाधुना।
शिष्यतेऽतोऽपि च शिवा-नुशासनमिदं भवेत् ॥७॥

शिवजी ने प्रथम शासन (शास्त्रकरण) किया। अनु = उसके अनुसार देवर्षि नारदने शासन – अनुशासन किया। इस लिये भी शिवानुशासन हुआ ॥७॥

शिवोऽपि पूर्वशिष्टत्वादनुशास्त्येव केवलम्।
इदमादितया नैव शास्त्यतश्चानुशासनम् ॥८॥

शिवजी भी पूर्वकल्प परम्परा में शासित का ही शासन (प्रोक्त का ही प्रवचन) करते हैं। न कि यही आदिम उपदेश। अतोऽपि अनुशासन कहा (केवल शासन नहीं) ॥८॥

तद्विश्वसिति नैवात्र संशयादि करोति यः।
श्रद्धत्ते बहुमानेन भक्तिस्वीकरणेच्छया ॥९॥

इस शिवानुशासन पर जो विश्वास करता हैं–संशयविपर्यास नहीं करता। श्रद्धते अर्थात् भक्ति स्वीकारार्थ बहुमान समान करता है ॥९॥

भवानीशंकरौ वन्दे श्रद्धाविश्वासरूपिणौ।
इत्युक्तेः शिवशक्त्योर्यो गृह्णाति हृदि सादरम् ॥१०॥

श्रद्धा और विश्वास को ही शिव और शक्ति संतोंने बताया है उनको सादर हृदय में जो धारण करता है ॥१०॥

स प्रेष्ठं परमात्मानं प्रेमात्मानं परात्परम् ।
लभते पुरुषार्थं स्वमवाङ्मनसगोचरम् ॥११॥

प्रेष्ठ-प्रियतम-प्रेमात्मारूपी परमात्मा को जो परात्पर, वाणी और मन के अगम्य परम पुरुषार्थ है वह पाता है ॥११॥

स प्रेष्ठं लभते सेयं द्विरुक्तिः परमादरे ।
शास्त्रं परिसमाप्तं च यत्सत्यं सुन्दरं शिवम् ॥१२॥

'स प्रेष्ठं लभते' यह द्विरुक्ति परमादरार्थ एवं शास्त्रसमाप्त्यर्थं है। इति भी समाप्ति द्योतक है जो शास्त्र सत्य शिव एवं सुन्दर है ॥१२॥

इति शास्त्रप्रशस्तिः।

इति श्रीकाशिकानन्दयतिना कृतिना कृतः
प्रेमभक्तिरसोल्लासो भक्तानां तनुतान्मुदम् ॥१३॥

जयमङ्गलकृतिरेषा भगवत्करुणासुधार्णवोन्नीता ।
अविरलरसप्रवाहा परमप्रेमाणमातनोतु सताम् ॥१४॥

गुणाक्षिगगनाक्ष्यब्दे वामनद्वादशीतिथौ ।
समाप्तिमगमच्चेदं भक्तिसूत्रेषु वार्त्तिकम् ॥१५॥

ॐ

इति श्री जयमङ्गलाचार्य (महामण्डलेश्वरस्वामिकाशिकानन्द) विरचितं भक्तिरसोल्लाससंज्ञकं नारदीयभक्तिसूत्रवार्त्तिकं

समाप्तम्

★★

ग्रन्थकारके अन्य प्रकाशन



जा० सामान्यलक्षणातत्त्वप्रदीपः (न्याय)	१५-००
वैराग्यमन्दाकिनी	अप्राप्य
गोपीगीतम् अर्थद्वय हिन्दी	,,
दशशान्तयः सानुवादाः	,,
दक्षिणामूर्त्तिस्तोत्रं सवार्त्तिकं सानुवादं	,,
ईशावास्यरहस्यविवरणं सवार्त्तिकं	१५-००
संक्षिप्तशंकरदिग्विजयः सानुवादः	१०-००
नारदीयभक्ति (सूत्राणि) दर्शनम् सवार्त्ति (कानि) कम्	
प्रथमो भागः	१०-००
द्वितीयो भागः	१०-००
तृतीयो भागः	१०-००
वेदान्तसिद्धान्तकुसुमाञ्जलिः	८-००
भागवतसारस्तोत्रम् सानुवादं	८-००
भीष्मस्तुतिप्रवचन गुजराती	समाप्त
महिम्नःस्तोत्रं हरिहरपक्षीयानुवाद टिप्पणी सहित	समाप्त
शिवमहिम्नःस्तोत्रं स्पन्दवार्त्तिकं सानुवादं	३०-००
गीताप्रवचन सांख्यासन्दर्भ पूर्वार्ध	३५-००
गीताप्रवचन सांख्यसन्दर्भ उत्तरार्ध (स्थितप्रज्ञदर्शन)	२५-००
सुभगोदयम् अमृतझरिका व्याख्या अन्वयार्थबोधिनी टीका एवं भाषानुवाद सहित	शीघ्रप्राप्य

•

अन्य पुस्तकें भी यथाशीघ्र मुद्रित होंगी